

10-3

रसे और



सत्यार्थी

मूल्य : 3/— रुपए

कुल प्रतियां

24,000

8 वां संस्करण—मार्च 1985 —3000

प्रकाशक : सन्त निरंकारी मण्डल, सन्त निरंकारी कालोनी, दिल्ली-६

मुद्रक : केपिटल जॉइंट सन्स, बडियावाड़ा, दिल्ली-६

अंधकार से प्रकाश की ओर



जे० आर० डी० 'सत्यार्थी'

सम्पादक

'निर्मल' जोशी

भूपेन्द्र 'बेकल'

निवेदन

श्री जय राम दास सत्यार्थी निरंकारी जगत में शास्त्री जी के नाम से प्रसिद्ध हैं इस महापुरुष ने अपना पूरा जीवन सद्गुरु की सेवा में अर्पण किया हुआ है। शास्त्री जी अनेक गुणों के मालिक हैं। हर वातावरण में अपने आपको अनुकूल सिद्ध कर पाना आपकी विशेषता है, परन्तु उससे भी अपने व्यक्तित्व को उजागर रखना आपकी महानता है। बड़े नम्र स्वभाव के महान वक्ता, कुशल लेखक और गम्भीर विचारक हैं।

शास्त्री जी के इस महान व्यक्तित्व को समझने के लिए उनके अतीत का अध्ययन करना आवश्यक ही नहीं मार्ग-दर्शक भी है। मिशन को अपनाने से पहले इनके मन में विचारों के द्वन्द्व का जो तूफान उठता रहा उसका कुछ सारांश इस पुस्तक में बन्द है।

इस पुस्तक की लोकप्रियता इसी से सिद्ध होती है कि हम इसके कई संस्करण छाप चुके हैं, फिर भी इसकी मांग ज्यों की त्यों बढ़ी हुई है।

जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक ज्योति-स्तम्भ का काम देती है। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक पाठकों की प्रियता पाकर श्री शास्त्री जी को सद्गुरु का आशीर्वाद दिलाती रहेगी।

—मोतीराम सराफ

1-3-1984

अध्यक्ष : प्रकाशन विभाग

सन्त निरंकारी मण्डल



पहला क़दम

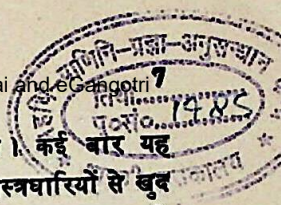
आज से २०-२२ वर्ष पूर्व एक रात को कुछ लोग, जिन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए हुए थे, हमारे घर (कालका जी कालोनी, नई दिल्ली) में सत्संग करने के लिए, एकत्रित हुए। मैं शाम को ड्यूटी दे कर जब रात को १० बजे घर लौटा तो देख कर हैरान रह गया कि हमारे कालका जी के कुछ भाई हमारे घर को घेरे हुए थे और साथ ही वे नारे लगा रहे थे कि 'हम इस पाखण्ड को नहीं चलने देंगे।' इतना ही नहीं, कुछ ने तो आगे बढ़ कर उन सफ़ेद वस्त्र धारियों से छेड़छाड़ भी शुरू कर दी। पर वे सफ़ेदपोश फिर भी किसी प्रकार का विरोध किए बिना अपने ढंग से प्रचार कार्य में तल्लीन रहे। हर वक्ता, चाहे वह गीतकार था या कवि था अथवा लेखरार था, हर एक ने एक जैसी ही बातें कहीं। ऐसा लगता था कि उन्हें किसी शक्ति ने अपने पंजे में जकड़ रखा है और मशीन की तरह हर कोई वही कुछ कहे जा रहा है, जो वह गुप्त शक्ति उनसे कहलवाना चाहती है। आखिर रात के १२ बजे उस सत्संग का विसर्जन हुआ और वे सफ़ेद कपड़ों में सजे लोग कारों, स्कूटरों, मोटर साइकिलों, साइकिलों पर बैठ कर अपने-अपने घरों को लौट

गाए। उनको गया देख कर नारे लगाने वाले भाई भी चले गये।

दूसरे दिन मैं अभी शौच आदि से निवृत्त होकर स्नान की तैयारी ही कर रहा था कि कालका जी के कुछ महानुभाव मेरे घर पर पधारे। उन के चेहरों से क्रोध की लपटें निकल रही थीं। वे बात करते हुए कांप रहे थे। उन्होंने बड़ी मुश्किल से अपने पर काबू पा कर मुझ से पूछना आरम्भ किया—“शास्त्री जी, क्या आप इस पाखण्ड को सहन कर सकते हैं? क्या आपने देखा नहीं कि वे श्वेत वस्त्रों में लुटेरे थे? इनका गुरु बाबा अवतार सिंह राम, कृष्ण और गुरु नानक होने का दावा करता है। ये एक दूसरे का जूठा खाते हैं, एक दूसरे के पैर छूते हैं। ये पाखण्डी धर्म ग्रन्थों का अपमान करते हैं।”

एक साथी ने तो मुझे झिझोड़ कर पूछा, “क्या कभी आप ने इतिहास में यह भी पढ़ा है कि भगवान् को जाना जा सकता है? भगवान् एक क्षण में मिल सकता है और वह भी खाते-पीते, मौज उड़ाते, घर-गृहस्थ का हर काम करते हुए?” उठती-बार उन्होंने एक आवाज़ हो कर कहा कि इस पाखण्डी की दुकान वे इस घर में नहीं चलने देंगे और इस काम में मुझे उनका साथ देना होगा, वरना मुझे भी उन का कोपभाजन बनना होगा।”

खैर, वे चले गए और मैं सोच में डूबा न जाने कितनी देर वहीं बैठा रहा। उनके आक्षेप रह-रह कर मेरी आंखों के सामने उभरने लगे। मुझे यह स्वीकार करने में रत्ती भर संकोच नहीं कि मैं खुद भी वही कुछ सहसूस कर रहा था, जो कुछ उन्होंने महसूस किया था। मेरा मन भी पुकार-पुकार कर मुझ से कह रहा था कि यह सचमुच पाखण्ड है, गुस्डम्ब है और इसको न रोकना एक बहुत बड़ा पाप है। पता नहीं, मेरे घर वाले इस प्रचार में क्यों सम्मिलित हैं?



सारा दिन इसी छटपटाहट में ही बीत गया । कई बार यह ध्यान भी आया कि मुझे एक बार उन श्वेत वस्त्रधारियों से खुद मिलना चाहिए और मिल कर उन से प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने चाहिए । पर हर बार यही सोच कर रुक जाता कि जो बात स्पष्टतया तर्क विरुद्ध प्रतीत हो रही है, उसका उत्तर वे लोग क्या देंगे ? मेरे बड़े भाई साहब, जिन्होंने अपने घर में लोगों को बुलाकर सत्संग का आयोजन किया था, इनके गुरु का शिष्यत्व ग्रहण कर चुके थे । सच तो यह है कि वह इन के रंग में पूरी तरह रंग चुके थे । रात को जब हम दोनों भाई मिलकर भोजन करने बैठे तो अकस्मात् इन श्वेत वस्त्रधारियों की चर्चा चल पड़ी । मैंने सारे आक्षेप, जो विरोधी लोगों ने उठाए थे, एक-एक करके अपने भाई साहब के सामने प्रस्तुत किये । उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार उन सब आक्षेपों का समाधान करने में कोई कसर न उठा रखी, पर मेरे हृदय में वे आक्षेप पूरी तरह जड़ जमाए रहे । मेरे भाई साहब ने और भी अनेक सज्जनों से मेरी भेंट करवाई और हर सज्जन ने बड़ी नम्रता और सज्जनता से मेरी शंकाओं का निराकरण करने का प्रयत्न भी किया, परन्तु मेरी सन्तुष्टि न हो सकी ।

आखिर, एक दिन दोपहर की कड़कती धूप में मैंने इनके गुरु के सम्मुख उपस्थित हो कर, उन सारे आक्षेपों को उनके सामने प्रस्तुत किया । वैसे तो वह आराम करने जा रहे थे, परन्तु मुझे एक श्रद्धालु जिज्ञासु पा कर टिक कर बैठ गए और बारी-बारी मेरे आक्षेपों का निराकरण स्नेह एवं गम्भीरता से करने में पूरे तीन घन्टे मुझ जैसे दीन-हीन के लिए सफ़र कर दिए । एक बात उन्होंने मुझ से खासतौर पर कही कि मेरी इन शंकाओं का तब तक अन्त नहीं

हो सकता, जब तक कि मैं इस रम्य राम का साक्षात्कार कर के मिशन की वास्तविकता को समझ नहीं लेता। खैर ! मैं चाहूंगा कि इस महान् विभूति ने जिस सरलता से मेरी शंकाओं का समाधान किया, उसे मैं आपके समक्ष प्रस्तुत करूँ, ताकि पाठकों में भी यदि कोई इन संशयों का शिकार हों, तो वे भी उन से मुक्त हो सकें।

यहां मैं यह निवेदन किये बिना नहीं रह सकता कि उस विभूति के चेहरे से अलौकिक तेज टपकता था। उनकी दलीलें बड़ी ही सीधी-सादी मगर ठोस थीं। उनके समझाने का ढंग बड़ा ही सरल था। मुझे यह स्वीकार करने में संकोच नहीं कि उनकी हर दलील, हर समझाई गई बात को मैं उसी सादगी से और उसी अन्दाज़ में प्रस्तुत नहीं कर सकूंगा। यहां मैं उन द्वारा समझाई गई बातों को अपने शब्दों में प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। भाव उनके हैं, लेकिन भाषा मेरी अपनी है।

उस तेजस्वी महात्मा ने सब से बड़ी शंका कि 'क्या परमात्मा की अनुभूति क्षण मात्र में हो सकती है ?' का समाधान करते हुए फ़रमाया—

बेटा ! जरा सोचो और सोच कर बताओ कि मैं तुम्हारे सामने बैठा हूँ और तुम मुझे जानते पहचानते हो। यदि इस समय कोई व्यक्ति जो मुझे जानता पहचानता न हो, तुम से आ कर पूछे कि बाबा अवतार सिंह जी कहां हैं, तो तुम्हें उसे यह बताने में कि यही तो हैं बाबा जी जो सामने विराजमान हैं, कितनी देर लगेगी ? और फिर उसे मुझ तक पहुँचने के लिए कौन से मार्ग को अपनाना पड़ेगा ? ठीक इसी प्रकार अकाल पुरुष निरंकार को जानने अथवा इस की अनुभूति के लिए किसी विशेष समय या साधन की आवश्यकता नहीं

हंती क्योंकि यह सर्वव्यापक है। मैं तो फिर भी तुमसे अथवा उस व्यक्ति विशेष से दूरी पर स्थित हूं, परन्तु भगवान् तो आपके अंग-संग है और कोई ऐसा स्थान नहीं जहां यह अलौकिक शक्ति विराजमान न हो। ज़रूरत इस बात की है कि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो इस शक्ति का ज्ञाता हो, वह आपको संकेत मात्र से इसका साक्षात्कार करा देगा। इसके लिए किसी विशेष मार्ग के अनुसरण की आवश्यकता नहीं। मार्ग तो उस चीज के लिए होता है जो हम से दूरी पर स्थित हो। हम तो मंजिल पर पहले ही खड़े हैं। पर हमें इस बात का ज्ञान नहीं है। ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने में तो इतना भी समय नहीं लगता जितना कि फूल के मसलने में।

इस तथ्य की पुष्टि आपने जनक-अष्टावक्र के इतिहास को दोहरा कर की कि किस प्रकार राजा जनक को गुरु अष्टावक्र की कृपा से क्षणभर में परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हो गया था। साथ ही धर्म ग्रन्थों के एवं श्री राम, श्री कृष्ण, श्री गुरु नानक देव, ईसा मसीह और हज़रत मुहम्मद साहब आदि के उदाहरण दे कर इस सत्य को मेरे हृदय में अंकित करने का बड़ा ही सफल प्रयत्न किया और फिर फ़रमाया—इस हैरानी अथवा शंका का समाधान पूरी तरह तब ही होगा जब तुम इस कण-कण में व्याप्त प्रभु परमात्मा की जानकारी प्राप्त कर लोगे, अन्यथा केवल कोरी ज्ञान-चर्चा से बात बनने वाली नहीं।

दूसरे आक्षेप अर्थात् 'एक-दूसरे के चरण क्यों छूते हैं?' का बड़े ही थोड़े से शब्दों में निराकरण करते हुए फ़रमाने लगे—लोग तो अपने हाथों बनाई मूर्तियों की पूजा करते हैं। मैं उन्हें ईश्वर द्वारा निमित्त सजीव मूर्तियों की पूजा सिखा रहा हूं। पुरातन महापुरुषों

ने भी तो ऐसा ही आदेश दिया है :

हरि से जनि तू हेत कर, कर हरिजन से हेत ।

माल मुलक हरि देत है, हरिजन हरिहि देत ॥

अथवा

सिया राम मय सब जग जानि ।

करहुं प्रणाम जोरि जुग पानि ॥

इतना ही नहीं,

जो मिले गुरुसिखड़ा, तिस निओं-निओं लागे पाए जीओ ।

वैसे भी सोचो कि परमात्मा को हम परम पिता मानते हैं
और बड़े उच्च स्वरों में गाते हैं :

एक पिता एकस के हम बारक ।

अथवा

त्वमेव माता च पिता त्वमेव ।

स्पष्ट है कि यदि हम इस परम पिता को रिझाना चाहते हैं तो
हमें इस परमात्मा के प्यारे पुत्रों से प्यार करना ही होगा, हमें सब
का सम्मान करना ही होगा ।

लेकिन बेटा ! मैंने तुम्हें ये सब तर्क और धर्म ग्रन्थों की मिसालें
देकर समझाया है, पर यदि तुम ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि कर लो तो
यह चरण छूने की बात तुम्हें बिना समझाए समझ में आ जाएगी
क्योंकि इस चरण वन्दना के पीछे एक गूढ़ रहस्य है, जो आत्मज्ञान
हो जाने पर ही सही अर्थों में समझ आ पाना सम्भव है ।

इसके बाद वह फ़रमाने लगे—

तुम्हारी एक दूसरे का जूठा खाने के विषय में जो शंका है,
वह भी तुम्हारे इस मिशन को ठीक तरह से न समझने के कारण

ही है। तुम कुछ दिन इन सन्तों का संग करके देखो कि यहां खाने-पीने में कितनी सफ़ाई से काम लिया जाता है। हां, इतनी बात जरूर है कि इनको मिलकर खाने की बात सिखाई जाती है और साथ ही दूसरों को खिलाकर स्वयं खाना खाने की भावना को जागृत किया जाता है। तुमने अपने घरों में ही देखा होगा कि जब किसी माता-पिता के सारे बच्चे मिलकर भोजन करते हैं, तो माता-पिता का मन दैवी प्रसन्नता से नाच उठता है। इसी प्रकार जब ब्रह्मज्ञानी महापुरुष मिल कर भोजन करते हैं तो इनका परमपिता परमात्मा इनके इस मिलन को देख कर इन्हें शाश्वत आनन्द दिए बिना नहीं रह सकता। लेकिन इसका वास्तविक मर्म भी तुम्हें इस रमे राम का साक्षात्कार किए बिना समझ नहीं आ सकता।

इसी प्रकार मैं अनेकों शंकाएं प्रस्तुत करता रहा और वह बड़े स्नेहभाव से मेरी शंकाओं का निराकरण करते रहे। मैंने बड़ी नम्रता से यह भी निवेदन किया कि आप स्वयं को भगवान् राम या भगवान् कृष्ण अथवा गुरु नानक देव का अवतार क्यों कहते हैं ?

सुनकर वह मुस्करा दिए और बोले—

मैं ऐसा कुछ नहीं कहता हूं। मैं तो इन सब का दास हूं। हां, इतना जरूर है कि आज मैं भी उसी परमात्मा का ज्ञान दे रहा हूं जिसका साक्षात्कार अपने-अपने समय पर इन महापुरुषों ने करवाया था।

यह थी मेरी पहली भेंट, निरंकारी बाबा अवतार सिंह जी से जिन्हें उनके श्रद्धालु भक्त भगवान् से कम दर्जा नहीं देते। उनके सीधे-सादे तर्क मेरी बुद्धि को तो ठीक लगे, लेकिन मेरा मन उन्हें एकदम मानने को तैयार न हो पाया। मेरे हृदय में एक नहीं ऐसी

लाखों शंकाएं विद्यमान थीं, जिनका समाधान प्राप्त किए बिना मैं उनके सामने नत मस्तक हूँने को तैयार न था। परिणामतः मुझे जब भी अवसर मिलता, मैं उनके चरणों में उपस्थित होता और वह भी बड़े प्यार से मेरी हर शंका का निवारण कर अलौकिक आनन्द का अनुभव करते। उन्होंने कभी भी मेरी घृष्टता का बुरा नहीं मनाया और न ही कभी किसी प्रकार की उकताहट का भाव व्यक्त किया। अस्तु, उनकी इसी विशेषता के कारण ही मैं उनके पास निःसंकोच पहुँच जाता और अपने मन में उठने वाली हर शंका का समाधान चाहता।

उस महात्मा ने मुझे साफ़ शब्दों में बताया था कि जब तक मैं डमरू राम की अनुभूति नहीं कर लूँगा, मेरी शंकाओं का अन्त नहीं होगा। पर मैं उस समाज की गोद में पला था, जिसमें आरम्भ से ही यह सिखाया जाता था कि जब तक बात की पूरी तरह खाल न उतार लो, किसी बात को स्वीकार न करो। अस्तु, यह पूरी तरह हृदयगम कर लेने पर भी कि जनक आदि महात्माओं ने इसी संसार में रह कर और हर प्रकार के कर्त्तव्यों को निभाते हुए मोक्ष पद को प्राप्त किया, मैं यह मानने को तैयार न हुआ कि मेरे जैसा मोह माया के चंगुल में फसा प्राणी भी परम पवित्र परमात्मा के साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकता है और वह भी एक संकेत मात्र से। इसका कारण भी स्पष्ट था कि आज तक मैंने जितने भी कथा-उपदेश सुने अथवा जितने भी ग्रन्थों का अध्ययन किया, उनमें यही पाया था कि जब तक मन निर्मल नहीं हो जाता, परम पवित्र परमात्मा को पाया नहीं जा सकता। और मन की शुद्धि यून ही नहीं हो जाती, इसके लिए कई-कई जन्म लगा देने पड़ते हैं। इस सम्बन्ध

में एक महात्मा से हुई मेरी भेंट आज मेरे हृदय के नेत्रों के सामने उभर रही है।

यह घटना आज से ३०-३५ वर्ष पहले की है। आर्य समाज के प्रचारक महात्मा महता जैमिनी, जो कि देश विदेश का परिभ्रमण कर सरगोधा पधारे थे, की स्मरण शक्ति अथाह थी। उनके भाषण की सबसे बड़ी विशेषता यह होती थी कि वह सन् अथवा सम्बत्, समय एवं स्थान आदि का व्यौरा बड़ी बारीकी से देते थे। उन्हें यदि किसी पुस्तक से उद्धरण देना होता तो वह फ़रमाते कि अमुक पुस्तक में, अमुक पेज पर, इतनी लाइन छोड़ कर यह लिखा है अथवा श्लोक का इतना नम्बर है। और यदि किसी शहर की बात होती तो बताते कि अमुक गली के, इतने नम्बर मकान के पास, इतने बज कर इतने मिनट और इतने सेकण्ड पर यह घटना घटी। एक वच्चा होने के नाते उनकी स्मरण शक्ति का मुझ पर स्वभावतः बहुत प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप उनके प्रवचन मेरे हृदय पर जादू का-सा असर करने लगे।

उन दिनों मैं काशीराम माडल स्कूल में छटी कक्षा में पढ़ता था। मेरी आयु १३ वर्ष की होगी। मैं २५ चक जनुबी, जिला सरगोधा में चौथी पास कर खास सरगोधा चला आया और वहीं रहने लगा था। मेरी मां छोटी-सी उम्र में ही मुझे छोड़कर परलोक सिधार गई थी। घर की स्थिति साधारण थी, पर भक्ति-भावना की कमी न थी। इसमें मेरे परिवार और देहाती स्कूल का बहुत बड़ा हाथ था। मेरे भाई-साहब, जिनकी कृपा से मैं इस परोपकारी महात्मा के पास पहुँचने में समर्थ हुआ, नहर के सहकमे में पिनसाल नवीस का काम करते थे। पिता जी भी उसी लालुआली बंगले में,

जो नहर के किनारे बसा हुआ था, मेरे भाई के पास रहते थे। पिता जी ने एक कनपटे जोगी को अपना गुरु धारण कर रखा था। इन भाई साहब से बड़े हमारे एक और भाई थे। वह गोदड़ी वाले महात्मा के शिष्य थे। परिणामतः नहर के किनारे एकान्त-शान्त वातावरण में, जहां दुनियां का कोई शोर-ओ-गुल न था, प्रभु की खुले मैदान में पूजा-अर्जना होती और इन सब बातों का प्रभाव मेरी कोमल मति पर भी होना अवश्यम्भावी था। साथ ही जिस स्कूल में मैं पढ़ता था, वहां के बच्चे स्कूल जाने से पहले बड़ी श्रद्धा से सिर को रुमाल आदि से ढक कर गुरुद्वारे जाते। उस भक्ति-भाव का प्रभाव भी मुझ पर काफी सीमा तक हुआ। और कभी-कभी तो मैं अकेला एकान्त में बैठ कर रोने भी लगता और दिल ही दिल में कामना भी करता कि परमात्मा का साक्षात्कार हो जाए, जैसे कि ध्रुव, प्रह्लाद आदि भक्तों को हुआ था। अस्तु, इन्हीं संस्कारों के वशीभूत होकर मैंने निश्चय किया कि कैसे भी हो, मैं परम पिता परमात्मा के दर्शन जरूर करूंगा।

महता जैमिनी के रूप में मुझे अपने ध्येय की पूर्ति नजर आने लगी। उन्हें प्रातः उठकर सन्ध्या तर्पण करते और समाधिस्थ देखकर मैं मन ही मन सोचने लगा कि यह जरूर मेरा प्रभु से मिलाप करा देंगे। अतः उनकी कृपा दृष्टि एवं प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए एक दिन मैंने बड़ी ही स्वादिष्ट खीर तैयार की और रात भर उसे चाँद की चाँदनी में रख कर ठण्डा किया। प्रातः होते ही मैं खोवे की तरह जमी हुई खीर का कटोरा लेकर उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। खीर को उन्होंने बड़े ही चाव से खाया और खाने के बाद मुझ से मेरे सम्बन्ध में सारी जानकारी प्राप्त की कि मैं कौन हूँ, कहाँ पर

रहता हूँ और मेरे पिता क्या करते हैं, आदि-आदि। मैंने भी उन्हें विस्तार से अपनी टूटी-फूटी भाषा में अपने छोटे से जीवन की गाथा कह सुनाई। सुन कर उनका हृदय दया से आर्द्र हो उठा। बड़े प्यार से पास बैठ कर पूछने लगे, "मैं तुम्हारी क्या मदद कर सकता हूँ?"

मैं हैरान हूँ कि न जाने मेरे मुख से अनायास ही ये शब्द कैसे निकल पड़े, "आप कृपा करके मुझे भगवान् के दर्शन करा दें।" इस से आगे मैं कुछ नहीं कह सका। बस, चुप होकर नीचे दरी पर बैठ गया।

मेरी बात सुनकर उन्होंने बड़े प्यार से मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा, "बेटा, कौन-सी कक्षा में पढ़ते हो?"

मैंने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया कि मैं छठी कक्षा में पढ़ता हूँ।

"क्या तुम बता सकते हो कि बी० ए० पास करने में कितने वर्ष लगते हैं?" उन्होंने फिर पूछा।

"चौदह वर्ष लगते हैं", मैंने डरते-डरते उत्तर दिया।

"चौदह वर्ष भी तब, यदि विद्यार्थी एक साल में ही उत्तीर्ण होता जाए, अन्यथा इससे भी अधिक वर्ष लग सकते हैं। ठीक है न?" उन्होंने थोड़ा शिक्षोड़ कर पूछा।

"हां जी!" इतना कह कर मैं तो एकदम चुप हो गया, पर वह कहते ही गए, "बी० ए० जैसी मामूली पढ़ाई के लिए तो चौदह वर्षों की लम्बी साधना की आवश्यकता है, पर परमात्मा का ज्ञान तुम कुछ ही क्षणों में और वह भी खीर की एक कटोरी के मूल्य में ही पाना चाहते हो, यह तुम्हारा केवल बाल हठ है, बेटा! इसके लिए अनेकों जन्म तपस्या करनी पड़ती है, तब कहीं जाकर एक आत्मा पवित्र होकर परम पावन परमात्मा की अनुभूति करने

में समर्थ हो पाती है। अस्तु, बेटा ! यज्ञ, सन्ध्या आदि करते चलो, तुम्हारा यही कर्त्तव्य है। इससे आगे अभी सोचने की जरूरत नहीं।”

उनका यह तर्क मेरे कोमल हृदय को प्रभावित करने के लिए काफ़ी सफल था। यह धारणा समय पाकर और भी दृढ़ होती गई, क्योंकि इसके पश्चात् जिन-जिन विद्वानों से भी सम्पर्क हुआ, उन सबने भी इसी से मिलते-जुलते विचार व्यक्त किये। जीवन में कुछ ऐसे महात्मा भी आए जिन्होंने सन्त-कृपा, प्रभु-कृपा एवं गुरु-कृपा की महत्ता से अवगत कराने का प्रयत्न किया और बड़े विस्तार से बताया कि एक कर्म साध्य मार्ग है तो दूसरा कृपा साध्य मार्ग, मगर उनकी विचारधारा का मुझ पर कभी भी किसी प्रकार का भी प्रभाव न हुआ। सच तो यह है कि यही संस्कार एवं धारणाएं मुझे इस बात को न मानने पर विवश कर रही थीं कि परमात्मा की एक क्षण में अनुभूति हो सकती है और वह भी एक संकेत से। इस विषय में मैंने उस महात्मा (निरंकारी बाबा) से भी अपनी विद्या के बल पर काफी तर्क-वितर्क किया। आखिर एक दिन उन्होंने मुझे इस प्रकार समझाया—

देखो बेटा ! मैंने न तो शास्त्रों का अध्ययन ही किया है और न ही कोई विशेष योगादि साधनों को अपनाया है। मुझ पर तो मेरे गुरु की कृपा हुई है। उन्होंने मेरे गुण-अवगुणों की ओर ध्यान नहीं दिया। अस्तु, यह मेरे जीवन का निजी अनुभव है। इनके लिए मुझे कोई विशेष प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। हाथ कंगन को आरसी क्या ? तुम स्वयं इसी समय, इस महान् शक्ति की अनुभूति कर सकते हो। पर शर्त यह है कि तुम्हारे मन में प्रभु-

प्राप्ति की अदम्य इच्छा हो। यदि वाद-विवाद, तर्क-वितर्क ही करना चाहते हो तो इससे तो कुछ प्राप्ति होने वाली नहीं।”

यह सुनकर मैं भी चुपचाप बैठा रहा। मेरे हृदय में नत मस्तक होकर पूछने वाली भावना ने अभी जन्म नहीं लिया था। वह महात्मा भी इस बात को भांप गये कि मेरी उनके इस निजी व्यान से कोई विशेष तसल्ली नहीं हुई और न ही मेरे दिल में यह विश्वास ही आया कि जो कुछ वह कह रहे हैं, अक्षरशः सत्य है। मुझे एक-दम मौन पाकर उन्होंने फिर क्रमानुसार आरम्भ किया—

मैं जो बातें करता हूँ, लोगों को पहले-पहल उलट-सी लगती हैं, परन्तु बाद में वही लोग मेरी बातों का समर्थन करने लगते हैं। तुम भी ध्यान से सुनो। मान लो, एक व्यक्ति पापात्मा है और तुम्हारे विश्वास के अनुसार पहले उसे शुद्ध मन होना चाहिए। पर मैं पूछता हूँ कि वह शुद्ध पवित्र हो तो कैसे? शुद्धि के जिन उपायों को आप लोग अपना रहे हैं, वे हमारे मन को शुद्ध करने में एकदम असमर्थ हैं। जरा ध्यान देकर सोचोगे तो तुम्हें इस तथ्य को स्वीकार करने में रत्ती भर संकोच न होगा कि कभी तो हम हवा का, कभी पृथ्वी का, कभी जल का सहारा लेकर मन को पवित्र करना चाहते हैं। पर ये वस्तुएं आत्मा को पवित्रता प्रदान नहीं कर सकतीं। इस विषय में उन्होंने एक ऐतिहासिक घटना सुनानी आरम्भ की—

एक बार बेणी पण्डित देश भर में अपनी विद्वता की धाँक जमाते हुए और बड़े-बड़े विद्वानों को शास्त्रार्थ में हराते हुए काशी पधारे। यहां के पण्डितों ने सोचा कि उन्हें शास्त्रार्थ में परास्त करना असम्भव है। इस हार से बचने के लिए उन्होंने एक चाल चली।

उन्होंने तय किया कि कबीर भक्त को बेणी पण्डित से शास्त्रार्थ के लिए कहा जाए। इस प्रकार एक तीर से दो शिकार करने की योजना तैयार की गई। यदि कबीर हार जाते हैं तो उनका कबीर जी से पिण्ड छूट जाता है, क्योंकि कबीर जी ने उनकी पोल खोलने की सौगन्ध खा रखी थी। और यदि कबीर जी की जीत होती है तो यह जीत काशी की ही जीत मानी जायेगी। इस प्रकार पण्डित मण्डली की भी लाज बच जाएगी। कबीर जी ने उनकी याचना को सहर्ष स्वीकार कर लिया, क्योंकि उनके हृदय में सत्य की ज्योति जगमगा रही थी, उनको विद्या से कैसा भय ? अस्तु, शास्त्रार्थ की घोषणा कर दी गई।

भक्त कबीर जी पूर्ण ब्रह्मज्ञानी थे। उन्हें प्रभु की कृपा से एक बात सूझी कि जब बेणी पण्डित जी प्रातःकाल शौचादि के लिए बाहर जंगल में जायें और जब वह पेट साफ करने के लिए बैठें तो उन्हें राम-राम बुलाई जाए। अस्तु, उन्होंने ठीक वैसा ही किया। जब पण्डित बेणी जी पेट साफ करने के लिए बैठे तो दूर से कबीर जी ने जोर-जोर से कहना आरम्भ कर दिया, “पण्डित जी ! राम-राम।” पण्डित जी ने अपवित्र अवस्था में होने के कारण कोई उत्तर नहीं दिया। कबीर जी जब बार-बार राम-राम बुलाने लगे तो पण्डित जी ने क्रोध में आकर मिट्टी का ढेला दे मारा, जो कबीर जी के माथे पर लगा। प्रातः चार बजे का समय होने के कारण बेणी जी कबीर जी को इस रूप में पहचान नहीं सके थे।

जब शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ तो कबीर जी ने बड़े आदर से पण्डित जी से पूछा, “क्या आप बता सकते हैं कि आपने प्रातःकाल मेरी राम-राम का उत्तर क्यों नहीं दिया ?” पण्डित जी पहले तो

कुछ सटपटाए, पर फिर उत्तर देते हुए कहने लगे कि क्या आप जानते नहीं कि उस समय मैं अपवित्र अवस्था में था ।

“ठीक है,” कबीर जी ने फ़रमाया, “पर क्या मैं पूछ सकता हूँ कि फिर कौन-सा साधन अपना कर आप पवित्र हुए ?”

पण्डित जी ने दिल्लगी करते हुए कहा, “भगत जी ! क्या आप इतना भी नहीं जानते कि शौच आदि के पश्चात् मिट्टी से हाथ मल कर अच्छी तरह से पानी से धो लिए जाते हैं और कुल्ला आदि करके शुद्ध हो जाते हैं ।”

कबीर जी ने नम्रता से निवेदन किया, “पण्डित जी ! मल भी तो मिट्टी का ही रूप है । अन्ततः यह मल भी मिट्टी में ही मिल जाता है । और फिर जब हम मिट्टी से हाथ मांजते हैं तो करोड़ों जीवाणुओं का जाने-अनजाने में हनन हो जाता और है । पानी, थोड़ा सोचकर देखो कि पानी में लाखों जीव रहते हैं । मछली आदि जीव पानी में मल विसर्जन किया करते हैं । यह पानी हमें इस कथित अपवित्र स्थिति से छुटकारा कैसे दिलवा सकता है ? ठीक इसी तरह पण्डित जी, वायु आदि में भी जीवाणु विद्यमान हैं । अस्तु, संसार की ये भौतिक शक्तियाँ हमें पवित्र कर पाने में असमर्थ हैं । याद रखो, परम पावन केवल परमात्मा ही है और उस से अभिन्न हुए बिना किसी अन्य उपाय से कोई भी शुद्ध पवित्र नहीं हो सकता ।”

यह घटना सुनाने के बाद उन्होंने बताया—हो सकता है कि यह कहानी इतिहास में न मिलती हो । पर मैं तो यह बात समझाना चाहता था कि हम पवित्र उस समय तक नहीं हो सकते, जब तक परम पावन परमात्मा के साथ अभेद नहीं हो जाते, क्योंकि पवित्रता

के लिए किसी परम पवित्र वस्तु का सहारा लेना पड़ता है। दुनिया और मुझ में इतना अन्तर है कि दुनिया वाले यह बताते हैं कि पहले शुद्ध बनो तो परमात्मा मिलेगा और मैं कहता हूँ कि पहले शुद्ध-पवित्र परमात्मा की शरण लो, तो तुम स्वयंमेव ही पवित्र हो जाओगे।

जबरा सोच कर देखो कि गन्दगी से भरा नाला जब गंगा नदी में गिरता है तो उसके पवित्र होने में कितनी देर लगती है, या पारस जब किसी लोहे को स्पर्श करता है तो उसके सोना बनने में कितनी देर लगती है। ठीक इसी तरह जो जीव सब चतुराइयाँ छोड़कर आत्मसमर्पण करते हैं, उन का कल्याण होने में देर नहीं लगती।

यह कहकर वह महात्मा, जो बड़ी देर से मुझ जैसे दीन-हीन पर अमृत वर्षा कर रहे थे, उठकर अन्दर वाले कमरे में चले गये और मैं अपनी साइकिल उठाकर अपने घर को चल पड़ा निरंकारी कालोनी से ले कर कालका कालोनी तक मैं इसी सोच में डूबा रहा कि यह महात्मा कैसा अजीब है जो सीधी सादी बातें करता है। मेरे हृदय में विचारों का एक भूचाल सा आया हुआ था। मैंने अपने जीवन में जो कुछ पढ़ रखा था, रह-रह कर मेरे हृदय की आँखों के सम्मुख घूमने लगा। ओम् विश्वानिदेव...अथवा ओम् वाक् वाक् ओम् प्राणः प्राणः...अथवा ओम् अग्नि नयः सुपथा राय...आदि वेद के कितने ही मन्त्र मुझे याद हो आए। गायत्री का मन्त्र अथवा तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु...आदि मन्त्र मेरे विचारों को शिक्षोड़ने लगे। हर मन्त्र बता रहा था कि हर भक्त ने पवित्रता के लिए परम पवित्र प्रभु के चरणों में ही भीख माँगी है।

यदि भक्त स्वयं किसी अन्य साधन या साधना से पवित्र हो पाया होता तो वह ऐसी याचनायें या प्रार्थनायें न करता। ये सब सोचते-सोचने जब मैं घर लौटा तो मुझे उस महात्मा का यह आदेश स्मरण हो आया—अब तुम्हें मेरे पास आने की शरारत नहीं है। जहाँ-जहाँ भी हमारा सत्संग होता है, वहाँ-वहाँ ही जाने की कोशिश किया करो। धीरे-धीरे स्वयं ही तुम्हारे मन की शंकाओं का समाधान होता जाएगा।

अस्तु, मैंने निश्चय कर लिया कि अब मैं इनकी संगत में शरार जाऊंगा क्योंकि उस महात्मा की कृपा से और कुछ नहीं तो कम से कम सत्य के ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा अपनी चरम सीमा अवश्य छूने लगी थी। मुझे रह-रह कर रहीम का यह दोहा याद आने लगा :

उत्तम विद्या लीजिए जद्यपि नीच पे होए।

परो अपावन ठौर पे कंचन तजत न कोए ॥

परिणामतः मैं उसी दिन रात को मालवीय नगर में होने वाले निरंकारी सत्संग में पहुँच गया और बड़े ही श्रद्धाभाव से एक कोने में जाकर बैठ गया। मुझे संगत में आया देखकर हर सज्जन ही बड़ा प्रसन्न हो रहा था, क्योंकि इससे पहले वे सभी कई बार मुझे बड़े प्यार से समझा चुके थे कि आप कुछ दिन संगत करो, आपको हर समस्या का हल मिल जाएगा। खैर, संगत में हर वक्ता ने इसी बात पर जोर दिया कि सत्गुरु की कृपा से ब्रह्म-ज्ञान की उपलब्धि अति सरल है। एक सज्जन ने तो यहाँ तक कह डाला कि पापी से पापी व्यक्ति भी यदि सद्गुरु की शरण में आ जाए तो उसका उद्धार भी क्षणमात्र में सम्भव है। उस महा-

पुरुष न बड़े तकपूर्ण ढंग से पूछा कि उस घोड़ी से क्या लाभ जो यह कहे कि कपड़े अपने घर से धो कर लाओ, क्योंकि तुम्हारे कपड़ों पर बहुत धब्बे हैं ! उस डॉक्टर का क्या करना जो मरीज को कहे कि पहले ठीक हो कर आओ, फिर मैं तुम्हारा इलाज करूंगा ! ठीक इसी प्रकार यदि कोई साधु महात्मा यह कहे कि पहले वासनाओं को त्याग कर, शुद्ध मन होकर मेरे पास आओ तब मैं तुम्हें ज्ञान प्रदान करूंगा तो ऐसे साधु से हमें क्या लाभ ? यदि मन हमें ही पवित्र करना है तो फिर वह साधु-महात्मा किस रोग की दवा है ?

विचार से पहले न जाने स्टेज सेक्रेटरी को क्या सूझी कि उन्होंने मुझे भी बोलने के लिए कह डाला । मैं बिना सोचे समझे खड़ा हो गया और बोलना आरम्भ कर दिया कि अभी मेरे भाई ने जो कुछ कहा है, शत-प्रतिशत ठीक कहा है, क्योंकि परमात्मा ही परम पवित्र है, उसी के सामीप्य से ही हमारा मन भी निर्मल हो सकता है । सहसा मुझे सूरदास का यह पद स्मरण हो आया :

अवगुण चित न धरो ।

समदर्सी प्रभु नाम तिहारो, अपनेपन ही करो ।

इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो ।

यह द्विधा पारस नहीं जानत, कंचन करत खरो ॥

अभी मैं इस पद की व्याख्या ही कर रहा था कि गीता के ११वें अध्याय के एक-दो श्लोक भी स्वतः मेरी जीह्वा पर नाचने लगे :

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुनेव स मुत्तमः सम्यगन्यवसितो हि सः ॥३०॥

[यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भक्त हो मेरे को निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है।]

अथवा

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽहि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

[हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनि वाले जो कोई भी हों, वे भी मेरी शरण हो कर परम गति ही प्राप्त करते हैं।]

ये सब कुछ मेरे मुख से अनायास ही निकल पड़ा। मैं तो पहले यह मानने को तैयार ही न था कि शुद्ध मन के बिना भी परम पिता का सामीप्य मिल सकता है। पर महात्मा का वचन सत्य सिद्ध हुआ कि 'तुम्हारी हर शंका का समाधान स्वयंमेव सत्संग में ही हो जाएगा।'

जब मैं रात को घर की ओर जा रहा था तो हैरान होकर सोच रहा था कि आखिर मैंने किस के प्रभाव में आकर ये सब कुछ अनजाने ही स्वीकार कर लिया। उस महात्मा की आकृति रह-रह कर मेरी आंखों के सामने घूमने लगी। तब हृदय के किसी कोने से यह आवाज उठी कि माना, सन्त-महात्मा में बड़ी शक्ति होती है, पर कोई सन्त-महात्मा ईश्वर का अवतार कैसे हो सकता है? पंच भौतिक शरीर की कारावास में रहने वाली आत्मा परमात्मा का रूप कैसे हो सकती है? ईश्वर की असीम शक्तियाँ सीमित रूप में कैसे समा सकती हैं?

इस प्रश्न ने मुझे रात भर सोने नहीं दिया। कई बार ध्यान में आया कि यह महात्मा तो अपने आप को ईश्वर का अवतार

नहीं कहता, तब इसके सम्बन्ध में सोचने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु उसी क्षण यह बात आ कर कंपकंपी पैदा कर देती कि उस के शिष्य तो उस महात्मा को अवतार मनवाने पर अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। सोचता, किसी सत्संग में इस शंका का भी समाधान हो जाएगा, परन्तु फिर यह सोचकर मन निराश हो उठता कि सत्संग में इसका समाधान होने वाला नहीं, क्योंकि हर सत्संगी तो अन्धाधुन्ध उस महात्मा को राम, कृष्ण एवं गुरु नानक के समान अवतार मानने और मनवाने की सौगन्ध खाए बैठा है। अस्तु, मैंने एक बार फिर साहस बान्ध कर उस महात्मा के चरणों में उपस्थित होने का निश्चय कर लिया। मगर इससे पहले कि मैं उनके सम्मुख पहुंच कर उनसे इस शंका का समाधान चाहता, मुझे उस महात्मा के एक बहुत ही सुलझे हुए बुजुर्ग शिष्य से मिलने का अवसर मिला। संगतें उस बुजुर्ग को गुरु समान ही आदर देती थीं। मैंने उक्त प्रश्न को बड़ी नम्रता के साथ उस बुजुर्ग महात्मा के सम्मुख निवेदन किया। प्रश्न सुनकर वह महा-पुरुष अपनी दैवी मुस्कान में पूछने लगे, “अवतार से तुम क्या अर्थ समझते हो ?”

मैंने बड़ी दृढ़ता से उत्तर दिया कि ईश्वर जब मानव रूप धारण कर लेता है तो उसको ही अवतार नाम से अभिहित किया जाता है।

इस पर थोड़ी गम्भीर मुद्रा में वह महापुरुष बोले, “बेटा ! दुःख यही है कि लोग ठीक अर्थ जानते नहीं। यह अर्थ तो अनुभूति शून्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। ध्यान से सुनो, मैं तुम्हें इस का अर्थ समझाता हूँ।” उन्होंने एक क्षण सेरी आंखों में आंका और

फिर फ़रमाने लगे, “बाबा अवतार सिंह जी एक साधारण संसारी जीव थे। बाबा बूटा सिंह जी महाराज की कृपा से उन्होंने निराकार परब्रह्म की अनुभूति की। इस सर्वव्यापी को अंग-संग देखकर आत्म विभोर हो उठे। ऐसी मस्ती चढ़ी कि अपनेपन की सुघ-बुघ ही खो बैठे। उनमें और इस निराकार में कोई अन्तर न रहा। गर्मी-सर्दी के प्रभावों का अन्त हो गया। सुख-दुःख की अनुभूति जाती रही। वस्तुतः उस स्थिति को पहुँच गये थे, जिस में पहुँच कर महात्मा कबीर ने कहा था :—

राम कबीरा एक हैं कोय न सकै पहचानि ।

“पर जब बाबा बूटा सिंह जी महाराज शरीर छोड़ने लगे तो उन्होंने बाबा अवतार सिंह जी को संसार के उद्धार का कार्य-भार सौंप कर फ़रमाया, “अब तुम्हें इस ब्रह्मज्ञान को घर-घर पहुँचाना है।” परिणामतः वह, जो पहले आत्म विभोर अवस्था में रहते थे, पर कल्याण में जुट गए। उन्हें अब हर समय इस मिशन-पूर्ति की चिन्ता होने लगी। हर एक का दुःख-सुख अपना प्रतीत होने लगा, अर्थात् मानव कल्याणहित वह उस ब्रह्म रूप को छोड़कर एक साधारण मानव की भाँति जीवन जीने लगे। ब्रह्म अवस्था से नीचे उतर कर इस मानव रूप को धारण करना ही ‘अवतार’ है। अस्तु, इस तथ्य से जो अवगत हैं, वे ऐसी शंकाओं का शिकार नहीं होते।”

यह फ़रमा कर वह थोड़ी देर के लिए मौन हो गए और कुछ मिनटों के बाद उन्होंने फिर फ़रमाना आरम्भ किया, “गुरु ईश्वर रूप ही होता है। बल्कि ईश्वर से भी इस का दर्जा बहुत ऊँचा होता है क्योंकि गुरु हमें ऐसी अविनाशी शक्ति के साथ जोड़ता

है जो शाश्वत है, स्थायी एवं स्थिर है, अपरिवर्तनशील है। जरा सोचो, ईश्वर प्रदत्त माता-पिता, बहिन-भाई, सुख-वैभव एवं प्रकृति सब ही क्षण भंगुर हैं। पर गुरु प्रदत्त ईश्वर अजर-अमर-एकरस एवं सदा साथ देने वाला है। वैसे भी गुरु को परमात्मा से कम दर्जा देना, ईश्वर की महत्ता कम करना है।” ये सब समझाने के बाद उस बुजुर्ग महापुरुष ने मुझे सत्संग में जाने की प्रेरणा देते हुए कहा, “आप संगत में जाया करो, आपको हर शंका का समाधान वहीं मिल जायेगा। रोजाना संगत करो और देखो कि सच्चा पातशाह किस प्रकार आपकी हर शंका का निवारण करता है।”

मैं कुछ बोल न सका। नत मस्तक हो कर उठ खड़े हुआ और रास्ते भर यही निश्चय करता गया कि आज संगत में जरूर जाऊंगा। अस्तु, निश्चय अनुसार रात तो कालका जी में होने वाले सत्संग में पहुँच गया। मैं दिल में सोच रहा था कि देखें, आज कोई इस शंका का समाधान करता है या नहीं? परन्तु किसी ने भी इस विषय को छुआ तक नहीं। मैं मन ही मन कुछ छटपटाहट-सी अनुभव करने लगा कि मुझे उस महापुरुष ने आज टाल दिया है। इतने में स्टेज सेक्रेटरी ने मेरी प्रशंसा में कुछ शब्द कहे और साथ ही मुझे बोलने का आदेश भी दे दिया। आप यह जानकर हैरान होंगे कि मैं आज भी सोचे बिना उठ खड़ा हुआ और बड़े सहज भाव में बोलना शुरू किया, “मैंने अभी तक आप के गुरु से ज्ञान दीक्षा नहीं ली। फिर भी मैं आप से निवेदन करूंगा कि आप अपने गुरु को ही सर्वस्व समझा करो, क्योंकि उसने आपको ऐसी अलौकिक शक्ति प्रदान की है जो सदा आपके काम आने वाली है।”

उसी समय खड़े-खड़े मैं स्वयं एक उदाहरण द्वारा ‘गुरु को

ही भगवान समझना चाहिए' समझाने लगा—

एक व्यक्ति की मां बहुत बीमार पड़ गई। मृत्यु समीप देख कर उस मां ने अपने उस पुत्र को, जो वहां से दो सौ मील की दूरी पर रहता था, पत्र डलवाया कि वह जल्दी ही घर पहुंच जाए, ताकि अपनी मां के अन्तिम दर्शन कर सके। महीने की २७-२८ तारीख थी। उस पुत्र के पास किराये के लिए भी पैसे नहीं थे। उसने इधर-उधर से हाथ जोड़-जोड़ कर कुछ रुपये का प्रबन्ध किया और स्टेशन पर जा पहुंचा। टिकट लेने के लिए जब जेब में हाथ डाला तो उसके पैरों के तले से धरती खिसक गई। किसी जेबकतरे ने उसकी जेब साफ़ कर दी थी। वह हतप्रभ वहीं खड़ा का खड़ा रह गया। उसका चेहरा उसके हृदय की विकलता को स्पष्ट व्यक्त कर रहा था। एक व्यक्ति उसको देखकर रह न सका और पूछने लगा, “भाई, क्या बात है, तुम इस तरह निराश-हताश क्यों खड़े हो?” उस ने सारी व्यथा-गाथा कह सुनाई। उस दयालु ने उसे अपने पल्ले से टिकट-ले दी और साथ ही रास्ते का काम चला ने के लिए थोड़े और रुपये भी दे दिए। वह उस अनजाने व्यक्ति के चरणों पर गिर पड़ा और रो-रो कर कहने लगा कि तुम तो मेरे लिए भगवान् हो। भगवान् ही नहीं, भगवान् से भी बढ़ कर हो। उस सज्जन का हर सम्भव तरीके से धन्यवाद करने के बाद वह पुत्र भाग कर गाड़ी में चढ़ गया। गाड़ी में बैठे-बैठे उसे मां की याद के बजाए उस दयालु की, जिसने उसकी सहायता की थी, याद आने लगी। उसे ऐसे प्रतीत होने लगा कि वह कोई साधारण आदमी नहीं था बल्कि स्वयं भगवान् उसकी सहायता करने के लिए पधारे थे। इसके बाद वह जहाँ-जहाँ बैठता, उसी का यशोगान

करता, भगवान् का रूप समझ कर उसकी चर्चा करता ।

थोड़ा सोच कर देखें तो पता चलेगा कि हम ऐसे व्यक्ति को भगवान् का रूप मानने में झिझकते नहीं, जिसने हमारी मुश्किल के समय कुछ चान्दी के टुकड़ों से सहायता की, हमें हमारी मां से मिलाया । पर गुरु ने तो हमारी ऐसी सहायता की है, जिस का बखान कर पाना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी है । हमारा श्वास-श्वास प्रभु दर्शन विना व्यर्थ जा रहा था । गुरु कृपा से ही आप अपने परम पिता सच्चिदानन्द का सुख प्राप्त कर रहे हैं । अस्तु, ऐसी शक्ति को भगवान् रूप न समझने का अर्थ तो यही होगा कि हम 'भगवान्' को 'मां' से भी कम महत्त्व देते हैं । इस विषय में मैं एक उदाहरण और दे गया—

एक बहुत बड़ा परिवार था । उनके पास एक सुन्दर-सी प्यारी-प्यारी कोई ११-१२ सेर दूध देने वाली गाय थी । उस गाय के सहारे वह सारा परिवार स्वास्थ्य के दैवी आनन्द का लाभ प्राप्त कर बड़ा ही सुखमय जीवन व्यतीत कर रहा था । एक दिन गाय चराने वाले की लापरवाही के कारण गाय को कोई चुरा कर भगा ले जाने में सफल हो गया । जब सायंकाल को गाय घर पर वापिस न लौटी तो सारा परिवार व्याकुल हो उठा । घर के बड़े-बूढ़े घर से निकल पड़े । सारी रात आस-पास के ग्रामों की खाक छानते फिरे । पर गाय का कुछ पता न चला । आखिर थक-हार कर, हताश-निराश हो कर एवं ईश्वरेच्छा को प्रबल मान चुपचाप बैठ गए, पर रह-रह कर गाय की प्यारी-प्यारी आकृति उन की आंखों के सामने घूम जाती । बच्चे स्वप्न में भी बड़बड़ा उठते । इसी प्रकार पूरा एक सप्ताह गुजर गया । सायं के लगभग पांच

बजे थे। सारा परिवार चुप साधे बैठा था। एक सप्ताह पहले तक प्रतिदिन इसी समय वे गाय को दोह कर बालटी भर दूध प्राप्त करते थे। तभी उनके मुहल्ले में रहने वाला रामू, जो ७-८ दिन का अवकाश लेकर अपने गांव में गया हुआ था, गाय को साथ लिए हुए अकस्मात् सामने खड़ा दिखाई दिया। गाय को देखते ही परिवार के सभी सदस्य अनायास नाच उठे।

उनमें से एक ने गाय को ले जाकर खूटे से बांध दिया। अब एक ओर वह रामू था तो दूसरी ओर परिवार के १०-१२ सदस्य। रामू ने बड़े ही संक्षेप में बता दिया कि उसके गांव का एक जाट इस गाय को भगाकर ले गया था। जैसे ही उसकी नज़र उस पर पड़ी, वह गाय को पहचान गया। तभी उसने निश्चय कर लिया था कि वह किसी न किसी तरह गाय ले भागेगा। सीधे ढंग से तो वह इस गाय को उस जाट से प्राप्त कर पाने में समर्थ नहीं था। उसने आगे बताया कि आज सुबह ही उसे मौका मिला। उसने आज वापिस लौटना था। अस्तु, वह प्रातः चार बजे उठ खड़ा हुआ और उस जाट के घर के पास ही एक जगह छिप कर बैठ गया। और जैसे ही वह जाट दूध दोह कर घर के अन्दर घुसा, वह अवसर पाकर गाय को ले भागने में सफल हो गया। फिर छिपते-छिपाते वह अपने गांव पहुंचने में सफल हो गया।

परिवार का एक-एक सदस्य रामू की भरपूर प्रशंसा कर रहा था। उसके पास से कोई भी उठकर जाने को तैयार न था। कोई उसको रोटी पूछ रहा था, तो कोई उसके लिए मिठाई ला रहा था। रामू नीच जाट का माना जाता था, लेकिन सभी उसकी सेवा में जुटे हुए थे। यहां तक कि वे अपनी गाय को भी भूले बैठे थे,

उस गाय को जो कि उनके सुखों का असली साधन थी, जिसके लिए वे इतने आसू बहा चुके थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वे किस प्रकार रामू का अहसान चुकाएँ। यही नहीं, इस के पश्चात् वे जहां कहीं बैठते, रामू की ईमानदारी और साहस की चर्चा अवश्य करते। वे यह कहते थकते न थे कि रामू के वेश में स्वयं भगवान् ने उनकी सहायता की है।

संगत को सम्बोधित करते हुए मैंने निवेदन किया कि हम यदि तटस्थ भाव से सोचें तो हमें मानना पड़ेगा कि हम उस व्यक्ति की प्रशंसा में तो दिन-रात एक कर सकते हैं, और उसे भगवान् का रूप मानने में भी रत्ती भर संकोच नहीं करते, जो हमारी किसी खोई हुई प्रिय वस्तु को खोज कर के ला दे। वह वस्तु हमें केवल क्षण भंगुर सुख ही प्रदान कर सकती है। और अगर वह वस्तु न भी मिले तो भी हम उसके स्थान पर उससे भी कहीं अच्छी वस्तु थोड़े से त्याग एवं परिश्रम से प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं। परन्तु वह महान् विभूति, जो हमें सच्चिदानन्द प्रदान करती है, उसे भगवान् रूप मानने में हम कई तरह के हेर-फेर और कुतर्क प्रस्तुत करते हैं। अस्तु, यदि आपके सद्गुरु की आप पर ऐसी कृपा हुई है कि उसने आपकी आत्मा को ऐसे परमात्मा से जोड़ दिया है कि जिस को पा कर आपकी आत्मा आवागमन के भयानक चक्कर से मुक्ति पाने में सफल हो गई है तो निःसंकोच उस महात्मा का यशोगान कीजिये, और उसे भगवान् का रूप अथवा उसे भगवान् से भी बढ़कर पूजने में संकोच न कीजिये।

मैं ये सब कुछ सहज भाव में ही बोल गया था। सच तो यह है कि किसी गुप्त शक्ति ने ऐसा सब कुछ मेरे मुँह से निकलवा दिया था।

पर जब संगतों ने मेरी प्रशंसा करनी आरम्भ कर दी तो मेरे अन्दर एक अहं भाव का उदय हुआ। मैं मन ही मन अपनी भाषण कला और कहानी घड़ने की कला पर फूला न समा रहा था। वे भोले-भाले और निष्कपट हृदय तो मेरे कल्याण के लिए हाथ जोड़-जोड़ कर निवेदन कर रहे थे कि शास्त्री जी, आपने अभी तो ज्ञान प्राप्त नहीं किया और आप इतना अच्छा बोलते हैं; यदि आप ज्ञान ले लें और आपके मन की आंखें खुल जाएं तो फिर कहना ही क्या ! पर मैं अहं भाव में इतना डूबा हुआ था कि उनके हितकारक शब्द मुझ पर कोई और प्रभाव करने के बजाए मेरा अहम् ही बढ़ा रहे थे।

खैर, मैं घर लौट आया और जैसे ही तकिए पर सिर रखा, गहरी सोच में डूब गया। कई प्रकार के प्रश्न जन्म लेने लगे। पर उन प्रश्नों के उत्तर भी स्वतः साथ ही प्राप्त होते जा रहे थे। मैं अपने आपको ही सम्बोधित कर के कहता कि शास्त्री, तू कभी तो इस गुरुडम्ब का इतना कट्टर विरोधी था कि गुरु की आवश्यकता से ही इनकारी था, और आज स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि तू गुरु के यश गाता थकता नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं कि उनके पास कोई जादू हो, जिसके प्रभावाधीन तू सब कुछ बोलता चला जाता है; या फिर तू अपनी प्रशंसा का लोलुप है, जिसके कारण तू उन के बहुत समीप होता जा रहा है। अन्यथा तू ने अभी तक उनमें देखा ही क्या है जो तू उनके सम्मुख नत मस्तक होने में तनिक भी संकोच नहीं करता। मुझे इसी दौरान एक घटना स्मरण हो आई। इसकी चर्चा आर्य समाज के विद्वान प्रचारक पं० रामचन्द्र देहलवी ने की थी। किसी प्रश्नकर्ता ने पूछा था कि जब हर व्यक्ति उसी समय प्राणों का त्याग करता है जब उसका आखिरी समय

आ गया होता है तब जान से मार देने वाले को क्यों दोषी ठहराया जाता है और दण्डित क्यों किया जाता है ? इसके उत्तर में पूज्य पण्डित जी ने एक घटना सुनाई जो कुछ इस प्रकार थी :

दो पड़ोसी थे । उनका आपस में किसी कारण झगड़ा हो गया । वे दोनों ही दूसरे को दुःखी करने की नित नई योजनाओं को जन्म देने लगे । एक दिन उनमें से एक पड़ोसी के लड़के ने दूसरे को परेशान करने की भावना से अपनी गाय का सारा गोबर उनके (दूसरे पड़ोसी के) घर में फेंक दिया । प्रभु की लीला कुछ ऐसी हुई कि उस दूसरे पड़ोसी को उस दिन अपने इष्टदेव का पूजन करना था । पूजन के हितार्थ उन्हें ऐसा स्थान चाहिए था जो गाय के गोबर से पुता हुआ हो । पर वे झगड़े के कारण पड़ोसी से गोबर माँगने के लिए तैयार न थे । इसी सोच में ही थे कि गोबर का कहां से प्रबन्ध करें कि इतने में उन्हें गोबर अपने पड़ोसी के लड़के की शरारत के कारण उपलब्ध हो गया और इस प्रकार उनका काम तो चल गया, पर क्या उस लड़के की शरारत को इसलिए क्षमा कर दिया जाना चाहिए क्योंकि ठीक उसी समय पड़ोसी को गोबर की आवश्यकता थी ? नहीं, कदापि नहीं । बल्कि उसे तो उस शरारत के लिए दण्डित करना परमावश्यक है, अन्यथा भविष्य में वह कोई ऐसा भी उत्पात खड़ा कर सकता है जिससे पड़ोसी के प्राण किसी जोखिम में पड़ सकते हैं । गोबर वहां से न मिलता हो वे कहीं और से प्रबन्ध कर लेते । अस्तु, किसी को वध करने वाला इसलिए छूट नहीं सकता क्योंकि मरने वाले का अन्तिम समय आ गया था ।

इस घटना का यहां वर्णन करने का मेरा अभिप्राय केवल

इतना ही है कि मैं भले ही गुरु की महिमा, महत्ता एवं आवश्यकता पर बड़ा लम्बा-चौड़ा भाषण झाड़ आया था और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उस महात्मा का सन्देश, जो वह पहुंचाना चाहता था, मेरे द्वारा पूर्ण भी हो रहा था तथा श्रोतागण उससे लाभान्वित भी हो रहे थे पर मैं सोच रहा था कि आखिर मेरा क्या बना ? मेरी दशा तो घोबी के कुत्ते की सी हो रही थी, जो न घर में होता है न घाट का । पहले मैं कम से कम जाने-अनजाने अथवा चाहे-अनचाहे कुल क्षण अपने प्रभु के नाम का ही सही, जाप तो करता था, पर अब तो मेरा यह दैनिक कर्म भी छूट गया और मैं उस महात्मा (निरंकारी बाबा) का शिष्यत्व भी ग्रहण न कर सका था । इसी उधेड़बुन में उस महात्मा के एक बड़े ही सुलझे हुए शिष्य के एक प्रवचन का अंश मुझे स्मरण हो आया । उन्होंने अपने प्रवचन के दौरान बताया था कि कई लोग आते हैं और हमारे मुंह पर ही बड़े तपाक से कह देते हैं कि वे गुरुडम्ब के बड़े कट्टर विरोधी हैं, और हम भी उनकी हां में हां मिलते हुए, एवं उनका समर्थन करते हुए यहां तक कह देते हैं कि हम तो इस संसार में आए ही इसीलिए हैं कि इस पाखण्ड को जड़ से उखाड़ फेंके । इस विषय की उन्होंने जो व्याख्या की थी, उसने आज गई रात में मेरी बहुत सहायता की । उन्होंने बताया था कि लोग डम्ब अथवा पाखण्ड का सही अर्थ नहीं समझते । वस्तुतः डम्ब अथवा पाखण्ड का सही अर्थ है कि जो कुछ हम कहते हैं, हमारा आचरण उसके विरुद्ध हो । उन्होंने इस बात की व्याख्या एक उदाहरण द्वारा करते हुए बताया कि हम बाजार में जाते हैं । वहां एक दुकान पर बहुत बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ बोर्ड टंगा है कि 'यहां शुद्ध देशी घी

मिलता है।' यह पढ़ कर यदि धी खरीदने लगे और खरीदते समय हमें यह पता चल जाए कि यह शुद्ध देशी धी नहीं बल्कि अशुद्ध धी है, तो हम निःसन्देह यह कह सकते हैं कि यह पाखण्ड है, यह एक डम्ब है। और हमारा कर्त्तव्य बन जाता है कि हम पूरी शक्ति से उसका विरोध करें। पर अगर सचमुच ही हमें शुद्ध देशी धी ही प्राप्त होता है तो हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम उसका प्रचार उस गली-कूचे में भी करने से संकोच न करें, जिस में हम निवास करते हैं। ठीक इसी प्रकार जब कोई हम से कहता है कि हमारा गुरु आत्मा को परमात्मा की अनुभूति कराता है, तो हमारा पहला कर्त्तव्य यह बन जाता है कि हम पहले इसके चरण-कमलों में उपस्थित हो कर ईश्वरानुभूति के लिए याचना करें। यदि यह गुरु हमारी आत्मा को परमात्मा से जोड़ दे, तो हमें इसके सामने जीवन भर के लिए सिर झुका देना चाहिए। और यदि यह ऐसा न कर सके, तो हमें खुली छूट है, छूट ही नहीं बल्कि हमारा यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि हम इस डम्ब अथवा पाखण्ड के विस्तार को रोकने के लिए अपने प्राणों तक की आहुति दे देने से भी पीछे न हटें।

यह सोचते-सोचते मैंने मन ही मन निश्चय किया कि मुझे पहले उस महात्मा के पास जा कर ज्ञान प्राप्ति की याचना करनी चाहिए और फिर देखना चाहिए कि क्या वह ऐसा दुरुह कार्य कर भी सकता है, या नहीं। तब ही जाकर मेरे मन की दौड़-धूप समाप्त हो सकती है। इस निश्चय पर पहुंचने के साथ ही मुझे नींद आ गई।

मेरा घर मेरे दफ्तर से लगभग आठ मील दूर था। मैं दफ्तर साइकिल पर जाया करता था। रात को देर से सोने के कारण

प्रातः देर से उठा। परिणामतः कुछ खाये-पीये बिना ही साइकिल उठाकर दफ्तर को चल पड़ा। सारे रास्ते में इन्हीं विचारों में खोया रहा कि मुझे अवश्य ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए याचना करनी चाहिये। यदि सत्य हुआ तो कल्याण हो जाएगा और यदि ढोंग हुआ तो भी पता चल जायेगा, ताकि ढोंग का पोल खोला जा सके और भोली-भाली जनता को इनके चंगुल से छुड़ाया जा सके। साइकिल का कई बार एक्सीडेंट होते-होते बचा। खैर, रात को मैं दृढ़ निश्चय करके सत्संग में पहुंच गया। परन्तु प्रभु की लीला अपरम्पार है। वहां पहुंचकर फिर वही पुरानी शंकाएं रह-रहकर मन को विद्रोह हेतु उकसाने लगीं।

मेरा ध्यान कभी इस ओर चला जाता कि जो महापुरुष स्टेज पर बैठा है, अच्छा खाता-पीता है, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनता है, त्याग नाम का भाव तो उससे कोसों दूर है। और जो महापुरुष श्रोतागण के रूप में विराजमान हैं, उनमें भी कोई ब्रह्मज्ञानी की कसौटी पर पूरा न उतरता दिखाई देने लगा। ऐसा लगने लगा कि मैं किसी षडयन्त्र का शिकार होने जा रहा हूं। रह-रहकर वहां से चुपचाप उठकर घर को चले जाने के लिए मन व्याकुल होने लगा। इधर मन में यह संघर्ष चल रहा था, उधर एक विद्वान् महापुरुष, जिन्हें उस दिन विशेष रूप से आमन्त्रित कर रखा था, बड़े ही अनोखे ढंग से प्ररमा रहे थे—

लोगों को परमात्मा की वस्तुतः कोई जरूरत नहीं। दुनिया तो भौतिक पदार्थों की पुजारी है और इनकी प्राप्ति के लिए सर पटक-पटक प्राणों की आहुति दे देने में भी संकोच नहीं करती, हालांकि भौतिक पदार्थों से शाश्वत सुख की उपलब्धि कर पाना एकदम

असम्भव है, क्योंकि भौतिक पदार्थ 'परिवर्तन' के शिकार हैं। उन्होंने इस तथ्य की पुष्टि अनेकों उदाहरणों द्वारा की। उन्होंने एक मां की व्यथा-गाथा कह सुनाई :

एक स्त्री का विवाह हुए चौदह वर्ष बीत गये थे, पर उसकी कोई सन्तान न हुई थी। वैसे उसे जीवन का हर सुख प्राप्त था। धन-वैभव का कोई अभाव न था। स्वास्थ्य भी काफी अच्छा था। दूध-दही अर्थात् खान-पान की सब सुविधायें उसे प्राप्त थीं। फिर भी वह सदा निराश रहती। उसका विश्वास था कि यदि उसको एक पुत्र-रत्न मिल जाये तो फिर उसका जीवन सुखों का केन्द्र बन जायेगा। कई महापुरुष उसे समझाते कि प्रभु परमात्मा का ध्यान धरो। तुम्हारे यहां सन्तान का न होना भी सम्भवतः तुम्हारे हित में ही है। परन्तु उसे ऐसे उपदेश खाने को दौड़ते और वह मन ही मन यह सोच कर चुप रह जाती कि इनके पास एक स्त्री अथवा मां का हृदय नहीं, तभी ये मुझे ऐसे उपदेश देते हैं। दातार प्रभु की कुछ ऐसी कृपा हुई कि एक विशेषज्ञ की दवा से उसे एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। कई वर्ष की कामना एवं साधना फल लायी। बच्चे का लालन-पालन बड़े लाड-प्यार से होने लगा। उसकी हर इच्छा को ईश्वर-आदेश समझ कर माना जाने लगा। परिणामतः बच्चे का स्वभाव हठी होता गया। देखते-देखते बच्चा पांचवीं कक्षा तक जा पहुंचा। बच्चे ने घड़ी की मांग कर दी। मां ने पितर को बताए बिना ही घड़ी ला दी। कुछ दिनों पश्चात् बच्चे ने छोटी साइकिल ला देने का आग्रह करना आरम्भ कर दिया। मां की ममता साइकिल ले देने को तैयार न थी, क्योंकि उसे भय था कि बच्चे की आयु अभी बहुत छोटी है, साइकिल पर नियन्त्रण रख

पाना उसके बस की बात नहीं। सड़कों पर बसों, कारों, ट्रकों की इतनी भीड़ है कि वह कहीं किसी के नीचे आकर कुचला न जाए। उधर बच्चे को 'न' सुनने की आदत न थी। अस्तु, एक दिन जब बच्चे के रोने-चिल्लाने पर भी मां साइकिल ले देने को तैयार न हुई, तो बच्चे ने क्रोध में भर कर मां को वालों से पकड़ कर उसका सिर धरती पर दे मारा। माथे से रक्त की धारा बह निकली। मां के मुख से अनायास ये शब्द निकल पड़े कि इससे तो मैं बांझ ही रहती तो अच्छा था। मुझे यह दिन तो न देखना पड़ता। उसे एक-एक करके वे सारे दिन स्मरण हो आये जब पुत्र प्राप्ति के लिए उसने हर ऐरे-गैरे के चरणों को धो-धो कर पीने में भी कोई संकोच नहीं किया था। हर साधु-सन्त के द्वार पर कई-कई दिन तक नाक रगड़ी थी। देवी द्वारों अथवा ठाकुर द्वारों पर जा-जाकर अपने आदर सम्मान तक को बलि वेदी पर चढ़ाने में सभी प्रकार की लोक लाज को ताक पर रख दिया था।

वक्ता महापुरुष ने इस कथा का सार बताते हुए फ़रमाया कि संसार के सभी पदार्थ शाश्वत् सुख के कभी भी प्रदाता सिद्ध नहीं हो सकते। जो कल सुखदायी होते हैं, वही आज दुःख का कारण बन जाते हैं। हमारा यही दुर्भाग्य है कि हम हर उस पदार्थ को अपना सहारा बना बैठे हैं जो क्षण भंगुर है, क्षण भंगुर नहीं तो परिवर्तनशील अवश्य है। धन, यौवन (स्वास्थ्य) एवं महल-माड़ियां सब परिवर्तनशील हैं। हम इनके लिए तो गिड़गिड़ा सकते हैं, परन्तु सच्चिदानन्द परमात्मा के लिए हम किसी के सम्मुख कुछ क्षणों के लिए नत मस्तक होने को भी तैयार नहीं। मुझे ऐसे लगा मानो ये सब कुछ मुझे ही कहा जा रहा है, परन्तु इतना सब कुछ होते हुए

भी मैं ईश्वर प्राप्ति के लिए याचना करने में संकोच ही कर रहा था। एक अन्य सज्जन ने, जिन्हें मैं उस समय बिल्कुल नहीं जानता था, एक बड़ा सारगर्भित भाषण देते हुए कहा, “अभी बोलने वाले महापुरुष ने बिल्कुल ठीक ही कहा है कि लोगों को ईश्वर की जरूरत नहीं, अन्यथा जिस वस्तु की हमें खोज होती है, हम उसके लिए सर्वस्व अर्पण करने को भी तत्पर हो जाते हैं।” इस वक्ता ने भी एक बड़ी ही मर्मस्पर्शी घटना सुनाते हुए बताया—

एक बार मैं अपने एक अफसर को, जिनकी आयु लगभग ५५ वर्ष की थी, संगत में ले आया। जब कार्यक्रम की समाप्ति हुई तो उस अफसर ने बाकी सब बातों को भूल कर कि किस प्रकार ये लोग एक दूसरे पर न्यौछावर हुए जाते हैं, एक दूसरे का सम्मान करते हैं, मुझसे कहा, “यह तो आपने बड़ी उल्टी प्रथा को जन्म दे रखा है। स्टेज पर जो महानुभाव विराजमान हैं, उनकी आयु ३६-४० वर्ष की है जबकि मेरे जैसे ५५-६० साल के वृद्ध भी उन के चरणों में नत मस्तक हो रहे हैं। यह तो बिल्कुल गलत बात है।” मैंने उनके इस प्रश्न का उत्तर उस समय देना ठीक नहीं समझा क्योंकि मैं उस समय उनसे वाद-विवाद करने को किसी मूल्य पर भी तैयार नहीं था। इस घटना को घटित हुए अभी कुछ दिन ही व्यतीत हुए थे कि उस अफसर को नौकरी से सस्पेंड कर दिया गया। उन पर आरोप लगाया गया था कि उन्होंने स्टोर से कुछ सामान की हेराफेरी की है। उनको उनके किसी मित्र ने परामर्श दिया कि वह अपने बाल-बच्चों को साथ लेकर हमारे बड़े अफसर के घर पहुंच जाएं और गिड़गिड़ा कर उनसे दया की याचना करें। मरता क्या न करता ! इस अफसर को अपने मित्र

की यह बात जंच गई। वह अपने बीबी-बच्चों को लेकर उस बड़े अफसर के घर जा पहुंचे। पिता और बच्चे सभी उस बड़े अफसर के चरणों पर गिर कर नौकरी की भीख मांगने लगे। वह अफसर गिड़गिड़ाते हुए बड़े अफसर से कहने लगा, “आप तो हमारे माई-बाप हैं, हमारे अन्नदाता हैं, इस समय आप ही हमारे भगवान् हैं। यदि आपने मेरी लाज न बचाई तो मेरा सारा घर बर्बाद हो जायेगा, इन बच्चों का भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा।”

इस घटना को अपनी आंखों से देखने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ, क्योंकि मैं उस बड़े अफसर की बच्ची को पढ़ाने जाया करता था। वह अफसर तथा उसके बीबी-बच्चे बड़े अफसर के ही नहीं, अपितु मेरे चरणों पर भी गिड़गिड़ा कर सिफारिश करने के लिए याचना-प्रार्थना करने लगे। उनको ऐसा करते देखकर मुझे वह दिन याद हो आया जब मैं उस अफसर को संगत में लाया था और उसने कहा था कि बड़ी उम्र वाले का छोटी उम्र वाले के आगे झुकना गलत है। हमारे बड़े अफसर की आयु ३७-३८ वर्ष की ही होगी। मैंने न चाहते हुए भी अपने अफसर को उस समय की याद दिलाई, जब उसने कहा था कि यह कितनी उल्टी प्रथा है कि एक बूढ़ा व्यक्ति एक युवक के चरणों पर सिर रख रहा है, तो उसकी चीख निकल गई। वह फूट-फूट कर रोने लगा। उसके मुंह से बार-बार ये शब्द निकलने लगे कि बेटा ! मुझे बचाओं, मेरा सारा घर लुट जायेगा।

अन्त में उस वक्ता ने बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में बताया कि जिस वस्तु की मनुष्य को आवश्यकता होती है, उसके लिए सब परम्पराएं, सब मर्यादाएं, सब विधि-विधान मनुष्य ताक पर रख

देता है, परन्तु जिस वस्तु की उसे आवश्यकता नहीं होती, उसके लिए हज़ारों बहाने, लाखों शंकाएँ खोज निकालता है। जैसे कि वह अफ़सर जो कभी सभ्यता-संस्कृति की दुहाई देता था कि बड़े-बूढ़े अथवा स्त्री जाति को दूसरों के चरण स्पर्श नहीं करने चाहिए, वही युवा अफ़सर के चरण स्पर्श ही नहीं, धो-धो कर पीने में भी अपना सौभाग्य समझने लगा, ताकि उसकी लाज बच जाए, उसकी नौकरी बच जाए। आखिर क्यों? क्योंकि उसे नौकरी चाहिए। इसलिये वह उसके लिये हर कर्म करने के लिये तैयार है। इससे स्पष्ट है कि उसे परमात्मा की कोई आवश्यकता नहीं थी, अन्यथा उसे चरणों में सर रखने में हिचकिचाहट न होती।

संगत में बैठा-बैठा मैं अनुभव कर रहा था कि स्वयं मैं भी इसी रोग का बुरी तरह शिकार हूँ। क्योंकि जिसके मन में जिस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है, उसकी प्राप्ति के लिए वह सब कुछ करने को उद्यत हो जाता है, पर मैं तो ईश्वर प्राप्ति के लिये सर्वस्व अर्पण करना तो दूर रहा, नत मस्तक होकर इतनी-सी बात भी कहने को तैयार नहीं था कि आप कृपा करके मुझे भी इस सर्वव्यापक प्रभु की अनुभूति प्रदान करो। सच तो यह है कि मेरे मन में ईश्वर को जानने की भावना अंकुर रूप में प्रस्फुटित होने जा रही थी। यह अंकुर अपने विकास की सीमा को तब छूने लगा, जब एक महापुरुष ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में एक प्यासे व्यक्ति की व्यथा-गाथा कह सुनाई—

एक व्यक्ति को, जिसे पहली बार एक बहुत बड़े नगर में जाने का सौभाग्य मिला था, नगर में घूमते-घूमते प्यास लग आई। कुछ देर तो वह अपनी प्यास को रोके रखा, परन्तु एक-दो

घण्टे व्यतीत हो जाने पर प्यास के मारे उसके प्राण खुशक होने लगे। जिघर भी दृष्टि उठाता, उसे बड़ी-बड़ी सड़कें और अट्टालिकाएं ही देखने को मिलतीं, पर पानी कहीं भी दृष्टिगोचर न होता। आखिर जब प्राण होठों पर आ पहुंचे तो वह साहस कर के हर आने-जाने वाले से पानी के सम्बन्ध में पूछने लगा। कोई भी उसे सही उत्तर न देता। हर एक अपनी धुन में मग्न उसे कुछ बताये बिना आगे बढ़ जाता। प्यास के मारे जब वह निढाल हो उठा तो बांवरों की तरह इधर-उधर भागने लगा। कुछ मनचले लोगों के लिये वह मनोरंजन का साधन बन गया। कोई उसे कह देता कि उस बड़ी सी बिल्डिंग के पीछे पानी का नल है तो कोई उसे किसी ऐसी दुकान की ओर संकेत कर देता जो एक बहुत बड़ा शो रूम होता। फलतः वह उनकी बात को मान कर वहां दौड़ा-दौड़ा पहुंचता, पर पानी के स्थान पर उसे अपमान का सामना करना पड़ता।

उस वक्ता ने बड़े अनोखे से अन्दाज़ में पूछा कि क्या वह प्यासा व्यक्ति चुपचाप बैठ गया, क्योंकि उसे पानी का स्थान बताने वालों ने धोखा दिया है? नहीं, वह हर एक की बात मान कर दौड़ता रहा क्योंकि उसे प्यास लगी थी। और वह तब तक दौड़ता और हर एक से गिड़गिड़ा कर पूछता रहा जब तक उसे पानी नहीं मिल गया और उसकी प्यास शान्त नहीं हो गई।

उस वक्ता ने बड़े ही गरजते हुए स्वर में कहना शुरू किया कि क्या उस प्यासे ने पानी के सम्बन्ध में पूछते हुए इस बात का ध्यान रखा कि अमुक व्यक्ति हिन्दू है, मुसलमान है अथवा सिख या ईसाई है, या उसने यही जानना चाहा हो कि वह क्या खाता है, क्या

पीता है अथवा उसने कैसे वस्त्र धारण कर रखे हैं ? नहीं, बिल्कुल नहीं; क्योंकि उसे प्यास लगी हुई थी और वह अपनी प्यास बुझाना चाहता था। यदि उसे प्यास न लगी होती अथवा वह प्यास को शान्त न करना चाहता होता तो वह सम्भवतः किसी के सम्मुख न ही गिड़गिड़ाता और न ही अनुनय विनय करता। ठीक इसी प्रकार जिनके हृदय में ब्रह्मानुभूति की तीव्र पिपासा होती है वे तो

रहिमन इस संसार में सबसे मिलियो धाए।

न जाने किस वेश में नारायण मिल जाए ॥

की उक्ति के अनुसार सब के सम्मुख नत मस्तक होकर याचना-प्रार्थना करने में रत्ती भर भी संकोच नहीं करते। परन्तु उनका क्या किया जाए जिनके हृदय में प्रभु परमात्मा के मिलन की चाह ने जन्म ही नहीं लिया !

मैं मन ही मन सोच रहा था कि वस्तुतः यह मेरी ही कहानी है और मुझे ही सम्बोधित करके कहा जा रहा था। सच तो यह है कि इन सब उदाहरणों का मेरे हृदय पर अमिट प्रभाव भी हो रहा था और मैं अनायास ही इस परिणाम पर पहुँच गया था कि उत्तम विद्या लोजिए जद्यपि नीच पे होय।

परो अपावन ठौर पर कंचन तजत न कोए ॥

अस्तु, मैंने दिल ही दिल में निश्चय कर लिया था कि आज संगत के विसर्जन के पश्चात् मैं हाथ जोड़ कर ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि के लिए याचना कर दूँगा। ठीक इसी समय पर, मानों गर्म लोहे पर चोट करते हुए उस वक्ता महापुरुष ने एक माता की मानसिक अवस्था का मर्मस्पर्शी शब्द चित्र प्रस्तुत किया कि जिसका पुत्र कुछ दिन हुए एक कलर्क के पद पर नियुक्त हुआ था और जिसे एक

दिन दफ्तर से घर पहुंचने में पर्याप्त देरी हो गई थी। मां शाम के ५-३० बजे तक तो बड़े शान्त भाव में अपने इकलौते बेटे की प्रतीक्षा करती रही पर ज्यों-ज्यों देर होने लगी, मां की व्याकुलता भी बड़ी तेज गति से बढ़ने लगी। मां घर से आंगन में, आंगन से दलहोज पर और दलहोज से सड़क पर पहुंच गई, और हर आने जाने वाले को अपना पुत्र ही समझने लगी। वह हर मिलने जुलने वाले से अपने पुत्र के बारे में पूछती। इस समय उसे ऊंच-नीच का भी कतई ध्यान नहीं था। किसी की भी जाति-धर्म की परवाह न करते हुए वह हर एक से अपने पुत्र के बारे में पूछ रही थी। यह जानते हुए भी कि उन बेचारों को उसके पुत्र का कुछ पता नहीं और न ही वे उसकी इस काम में कोई सहायता ही कर सकते हैं, वह केवल इसलिए पूछे जा रही थी क्योंकि पुत्र मिलन की कामना ने उसे बेचैन कर रखा था। वक्ता महापुरुष ने प्रश्नवाचक स्वर में सारी संगत को सम्बोधित करते हुए पूछा कि एक मां तो अपने पुत्र को मिलने के लिए सब मर्यादाओं और परम्पराओं को तोड़ने के लिए उद्यत हो जाती है और वह भी उस पुत्र के लिए जो आज तो है, कल होगा या नहीं इस बात की कोई गारण्टी नहीं, पर वह परमात्मा जो अजर, अमर और सच्चिदानन्द है, सब प्रकार के सुखों का प्रदाता है, उसके लिए हम कुछ अर्पण करने से तो दूर रहे केवल सिर झुकाने में भी अपनी मान हानि समझते हैं। इसलिए मेरा विश्वास है कि लोगों को ईश्वर प्राप्ति की तनिक भी कामना नहीं है, अन्यथा यह बाबा और इस बाबा के शिष्य तो गली-गली और कूचे-कूचे में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के सन्देश को

पहुंचाने में कोई कसर नहीं उठा रहे हैं। यदि सुनने वाले फिर भी आगे नहीं आते तो इससे यही पता चलता है कि वे प्रभु प्रेम का मात्र दिखावा करते हैं, वास्तव में उन्हें प्रभु की तनिक भी आवश्यकता नहीं। खैर, हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम यह आवाज आप तक पहुंचाएं, आगे आपकी अपनी इच्छा है कि इससे आप लाभ उठाते हैं या नहीं।

दूसरा कदम

यह कह कर उस महापुरुष ने तो अपना स्थान ग्रहण कर लिया, परन्तु मेरे हृदय में ऐसा घाव हो गया कि जिसका इलाज आज ही हो जाना आवश्यक प्रतीत होने लगा । परिणामतः मैं हाथ मुंह धोकर, एक पुष्प माला और कुछ थोड़ी सी माया लेकर ज्ञान प्रदाता महापुरुष के चरणों में उपस्थित हो गया । उस दिन मेरे साथ और भी अनेकों साथी थे, जो ज्ञान प्राप्ति के लिए उपस्थित थे । ज्ञान प्रदाता महापुरुष से पिछले कई महीनों से मैं वाद-विवाद करता चला आ रहा था । आज जब उन्होंने मुझे इस श्रद्धा भक्ति के भाव में विभोर देखा तो वह भी टिक कर बैठ गए और ब्रह्मज्ञान से पहले, निरंकारी मर्यादा के अनुसार, उन्होंने पांच प्रणों की व्याख्या करनी आरम्भ की । उस महापुरुष ने बड़े ही सजग भाव में क्रमशः आरम्भ किया—

‘ज्ञान’ का अर्थ है ‘समझ’ । पर केवल किसी बात को समझ लेने मात्र से किसी का कोई हित नहीं होता । उस विशेष बात को हमें अपने जीवन में उतारने से ही लाभ प्राप्त होता है अन्यथा समझने या न समझने से कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता । एक

उदाहरण से उन्होंने अपनी इस बात को सिद्ध करते हुए फ़रमाया कि मान लीजिए, हमने एक बच्चे को समझा दिया कि देखो बच्चा, यह आग है, इसमें हाथ डालोगे तो हाथ जल जायेगा। यदि वह बच्चा इस तथ्य को समझ कर आग में हाथ नहीं डालता तो समझ उसके काम आ गई। यदि वह यह समझ कर भी आग में हाथ डाल देता है तो क्या वह ज्ञान अथवा समझ उसे इस कर्म के फल से बचा लेगी? नहीं, कभी नहीं। ज्ञान की यही महत्ता है कि हम कर्म करने से पहले ही कर्म फल के ज्ञाता होने के कारण उस कर्म को करने से बच सकते हैं। अस्तु, आप को कुछ ऐसी बातें बताई जाएंगी जिनको समझ कर और अपने जीवन में अपना कर आप अलौकिक सुख के भागीदार बन सकते हैं। वास्तव में ये हमारे मिशन के पांच प्रण हैं, जिन्हें हमने मौलिक सिद्धान्तों के रूप में इस लोक में सुख पाने के लिए अपनाना है।

एक क्षण रुकने के बाद उन्होंने फिर फ़रमाना शुरू किया—आपके पास तीन वस्तुएं हैं : तन, मन और धन। ये आपको किस ने प्रदान की हैं?

मैंने बड़े ही सहज भाव में उत्तर दिया—ईश्वर ने ही।

इसका अर्थ तो यह हुआ कि आप इनके स्वामी नहीं हैं, इनका स्वामी, इनका प्रदाता प्रभु निरंकार हुआ—उन्होंने फिर पूछा।

मैंने थोड़ा संजीदा होकर कहा—मैं ऐसा स्वीकार नहीं करता। मेरा तो विश्वास है कि इनका प्रदाता भले ही ईश्वर है पर इनके स्वामी हम हैं, क्योंकि हमारे कर्मों के फल से हमें इनकी राप्ति हुई है।

यह सुनकर उन्होंने बड़े ही प्यार से समझाना शुरू किया—
 तुम ठीक कहते हो कि ये कर्मों के फलस्वरूप हमें प्राप्त हुए हैं परन्तु
 थोड़ा सोच कर देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि हमारा सुख इसी में
 निहित है कि इन्हें ईश्वर की देन ही स्वीकार करें, क्योंकि हम
 अल्पज जीव हैं। मान लीजिए, हमारे कर्मों के फलस्वरूप हमारे घर
 में एक पुत्र रत्न का जन्म होता है। हम उस का लालन-पालन
 अपने जीवन की हर क्रामन को दवा कर करते हैं। वह पढ़-लिख
 कर जवान होता है। कमाने लगता है। उसकी शादी कर दी
 जाती है। और फिर एक दिन वह संसार से कूच जाता है।
 उसके कर्मों के फलस्वरूप उसे जाना था, सो वह चला गया।
 हमारे साथ जितना उसका लेन-देन था, उसने पूरा कर लिया
 था। अब हमारा उस पर कोई अधिकार नहीं था। परन्तु हम
 चीख-चीख कर रोते हैं। और यह इसलिए कि हम उस वस्तु
 विशेष का अपने आपको स्वामी मानते हैं, अन्यथा हम खूब अच्छी
 तरह समझते हैं कि हम लाख रो लें, चिल्ला लें, जिस वस्तु को
 जाना है, उसे जाना ही है। हम उसे रोक पाने में समर्थ नहीं।
 बेटा ! तन, मन, धन को प्रभु की देन समझ कर इनसे काम लो,
 इसी में हमारा कल्याण है।

मेरी पीठ थपथपाते हुए बड़ी दार्शनिक भाषा में आगे
 बोले—हर मनुष्य सुख चाहता है। दुनिया में जो कुछ भी हो रहा
 है, बड़े-बड़े तप, बड़ी बड़ी समाधियां और बड़े-बड़े कर्म काण्ड, सब
 इसी सुख की ही उपलब्धि के लिए किए जा रहे हैं। ईश्वर प्राप्ति
 भी हम करना चाहते हैं, इसके पीछे भी यही सुख की कामना काम
 कर रही है, क्योंकि हमारा विश्वास है कि परमात्मा सच्चिदानन्द

है, अर्थात् परमात्मा सत् चित् एवं आनन्द है जब कि हम केवल सत् चित् ही हैं। आनन्द का हममें अभाव है और हम इसी आनन्द के लिए ही ईश्वर का सामीप्य चाहते हैं, ईश्वर में लीन हो जाना चाहते हैं, अथवा ईश्वर रूप हो जाना चाहते हैं।

यदि हम सुखी होना चाहते हैं, जीवन में आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं अथवा हर प्रकार से चिन्तामुक्त होना चाहते हैं तो हमें तन, मन, धन को ईश्वर की दी हुई अमानत समझ कर प्रयोग करना चाहिए। उन्होंने एक छोटा सा, पर बड़ा ही सारगर्भित उदाहरण देकर समझाया कि इस तथ्य को स्वीकार करते ही हम सब बोझों से मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि जो चीज हमारी नहीं उसके लिए चिन्ता कैसी? जैसे किसी बैंक का खजान्ची होता है। उसके बैंक में कोई व्यक्ति लाख रुपए जमा करा जाए तो उसे कोई खुशी नहीं, और यदि कोई अपनी जमा की हुई राशि निकलवा ले तो उसे कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि वह उस पूंजी का अपने आपको स्वामी स्वीकार नहीं करता। यदि वह गलती से ऐसा कर बैठे तो तुम स्वयं ही अनुमान लगा सकते हो कि वह कितना दुःखी होगा। हर दुख के मूल में ये तीन ही कारण आपको विद्यमान मिलेंगे। जिस का थोड़ा स्वास्थ्य अच्छा है, शरीर में कुछ शक्ति है, वह उसी नशे में दूसरे को दबोच लेना चाहता है। जिस का मन जरा-सा पवित्र है, वह इस मान में ही डूबा जा रहा है, और जिस के पास थोड़ा-सा धन है वह हर आने जाने वाले से टकराने में ही अपना गौरव समझता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी ने किसी की ओर अंगुली उठाई तो भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया। किसी ने किसी को नीच समझा तो उसने अपनी महानता

का प्रदर्शन करने के लिए खून की नदियां बहा दीं, अथवा किसी ने दूसरे के देश को हड़पने के लिए अपने सारे देश को युद्ध की भट्ठी में झाँक दिया । काश ! व्यक्ति को समझ आ जाए कि ये तो ईश्वर की देन हैं । केवल मैं इनका उपभोग कर सकता हूँ । संसार में होने वाले कलह और क्लेश का जन्मदाता केवल अहं भाव ही है, जिस का अन्त केवल तन, मन, धन अर्थात् अपना सर्वस्व ईश्वर का समझने से ही हो सकता है । तभी मनुष्य सुख की सांस लेने में सफल हो सकता है । इतना कुछ कह चुकने के बाद उस महापुरुष ने मेरे चेहरे पर निगाह डाली । मेरे चेहरे के उतार-चढ़ाव को पढ़ने के पश्चात् उन्होंने महसूस किया कि मैं इतनी सी व्याख्या से सन्तुष्ट न था । अस्तु, उन्होंने मेरे हृदय में इस तथ्य को बिठा देने के लिए आगे फ़रमाना शुरू किया—

संसार का हर काम इन तीन शक्तियों को लगा कर ही हम सम्पन्न कर सकते हैं । मान लो, आपने कोई छोटी फैक्ट्री लगानी है अथवा और कोई छोटा-सा ही बिजनेस (व्यवसाय) करना है तो आपको इन तीनों को अर्थात् तन, मन, धन को अर्पित करना होगा । मन द्वारा योजना बनानी होगी, तन द्वारा श्रम करना होगा और धन द्वारा उस विशेष कार्य का संचालन करना होगा । यही बात नौकरी या अन्य कार्यों में भी इतनी ही सही है । दुःख इस बात का है कि हम इतनी मूल्यवान शक्तियों को सांसारिक उपलब्धियों के लिए खर्च कर रहे हैं, जो अन्ततोगत्वा दुःख का कारण बनने के अतिरिक्त और किसी काम नहीं आतीं; जबकि इन्हीं शक्तियों को अर्पित करने मात्र से हम हर प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा लेने में सफल हो जाते हैं ।

एक तरफ वह महात्मा यह सब कुछ कहता चला जा रहा था और दूसरी ओर मुझे भी वह सब कुछ स्मरण होता आ रहा था जो कुछ मैंने अपने गत जीवन में, इस सम्बन्ध में, सुना अथवा पढ़ा था ।

यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के अथवा ईशोपनिषद के पहले मन्त्र का यह आदेश कि 'हे मनुष्य, सारी सृष्टि का त्याग भाव से ही उपयोग करना और यह स्मरण रख कर कि इस घन-वैभव का दाता कोई और है' रह-रह कर मन को झिझोड़ने लगा ।

ठीक इसी प्रकार रहीम का यह अनुभव 'दिनहार कोई और है देता है दिन रैन' भी इसी तथ्य की ओर संकेत करने लगा ।

आर्य समाज में रहते हुए हम प्रायः यह पढ़ा करते थे :

मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा ।

तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मेरा ॥

उक्त बातें मुझे एकाएक स्मरण हो आईं । मन की गति बड़ी तीव्र होती है । यह क्षणों में भूली विसरी घटनाओं को एकदम सामने ला खड़ा करता है । परिणामतः एक बहुत पुरानी कहानी भी तत्क्षण मेरी आंखों के सामने धूम गई कि संसार भी उन्हीं पर विश्वास करता है जो इन ईश्वरीय शक्तियों को ईश्वर की ही अमानत स्वीकार कर प्रयोग में लाते हैं । जो इसके विपरीत इन्हें अपना मान कर अमानत में ख्यानत करते हैं, उन्हें इस लोक का विश्वास प्राप्त नहीं हो सकता, परिणामतः उन्हें दुःखी होना पड़ता है ।

वह कहानी कुछ इस प्रकार थी कि एक ब्रह्मवेत्ता राजा था । वह उदार चरित्र व्यक्ति था । जो कोई भी जरूरतमन्द उसके

द्वार पर आ जाता, वह उसे जितना रुपया भी जरूरत होता, बिना किसी लिखा-पढ़ी के अपने खजान्ची से दिलवा देता। एक दिन उस राजा का जवान पुत्र नश्वर शरीर को त्याग कर परलोक सिंघार गया। जब उस जवान पुत्र की अर्थी को श्मशान भूमि की ओर ले जाया जा रहा था तो एक व्यक्ति, जिसने उसी दिन उस राजा से बहुत-सा रुपया उधार लिया था, हमदर्दी जताने के लिए चीख-चीख कर रोने लगा। साथ ही चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगा, “हे राजा, ईश्वर ने तो आपके साथ अन्याय किया है, जो आपका नौजवान पुत्र आपसे छीन लिया है।”

राजा ने अन्तेष्टि कर्म से निवृत्त होकर सबसे पहले उसी व्यक्ति को बुलवाया और सारा रुपया उससे वापिस रखवा लिया। वह व्यक्ति हतप्रभ होकर इसका कारण पूछने लगा। राजा ने बड़े ही सहज भाव में कहना शुरू किया, “जब तुम ईश्वर की दी हुई वस्तुओं के लौटाने को अन्याय कहते हो और इतनी बड़ी शक्ति की अमानत में ख्यात करने में संकोच नहीं करते हो, तब तुम मेरी अमानत अथवा मेरा दिया हुआ रुपया लौटाने में कितनी अड़चने खड़ी कर सकते हो, इसका सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है। अस्तु, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए मैंने अपनी धनराशि वापिस ले ली है।”

इधर मैं ये सब कुछ अनुभव कर रहा था, उधर गुरबाणी के भी न जाने कितने ही श्लोक वह महापुरुष इस तथ्य के समर्थन में कह गए जिन्हें आज स्मरण न रख पाने के कारण लिख पाने में असमर्थ हूं। परन्तु यह सच है कि मैं इस पहले प्रण को स्वीकार कर चुका था। मेरी स्वीकृति के बाद ज्ञान प्रदाता महापुरुष ने दूसरे प्रण को

हृदयगम कराने के लिए बड़ी सतर्कता के फ़रमाना शुरू किया—

सद्गुरु ने तन, मन, एवं धन प्रभु की देन बता कर तुम्हें उस अहंकार के चंगुल से छुड़ा लिया है जो सब दुःखों का जन्मदाता है। अब दूसरे प्रण द्वारा सद्गुरु उस महान् पातक घृणा से मुक्ति दिलाता है, जिसने समस्त मानव जीवन को नरक रूप प्रदान कर रखा है। स्मरण रखो, मानव जीवन को दिव्य रूप प्रदान करने के लिए तुम्हें उदार चरित्र बनने का प्रण लेना होगा अर्थात् 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (सारा संसार ही हमारा परिवार है) की भावना को जीवन का अभिन्न अंग बनाना होगा। दूसरे शब्दों में तुम्हें आज के बाद जाति-पाति, मजहब अथवा वर्ण आदि किसी प्रकार के बन्धनों में अपने आपको नहीं बांधना होगा, अपितु एक सच्चे मनुष्य-धर्म को ही जीवन का मूल आधार बनाना होगा।

इस घृणानाशक मन्त्र की व्याख्या उस महात्मा ने कई ठंगों से की। सबसे पहले उन्होंने इस भेद-भाव की हानियां समझाते हुए फ़रमाया—प्रत्येक सम्प्रदाय, धर्म अथवा जाति ने अपने अलग-अलग नियम बना रखे हैं। परिणामतः एक सम्प्रदाय द्वारा बनाए गए असूलों का पालन करने से दूसरा सम्प्रदाय प्राणों का शत्रु हो जाता है। इस तथ्य को हम प्रतिदिन अपनी आंखों से देख रहे हैं। आज हमारा देश ही नहीं, सारा संसार ही इस भेद-भाव की भावना से कितना बुरी तरह पीड़ित है। कहीं मुसलमान हिन्दू का गला काट रहा है तो कहीं हिन्दू ईसाई को खा जाना चाहता है। कहीं ईसाई सिख से दुःखी है तो कहीं सिख मुसलमान को मौत की नींद सुला देना चाहता है। इसी भेद-भाव की भावना ने कल ही भारत को सदा-सदा के लिए दो टुकड़ों में बांट कर रख दिया। जिस

का परिणाम यह हुआ कि उस विभाजन की नींव में लाखों सुहागनों का सिन्दूर, करोड़ों अनाथों की हड्डियों और अनगिनत स्त्रियों के सतीत्व का रक्त गारे-चूने की भांति काम में लाया गया।

इन जातियों, मज्जहबों एवं सम्प्रदायों का बुनियादी तौर पर अस्तित्व स्वीकार करना ही हमारी सब से बड़ी भूल है। जरा-गहराई से सोचो तो पता चलेगा कि जो जाति हमारे पिता की होती है, वही हमारी भी स्वीकार की जाती है। जब हमारे परम पिता परमात्मा की ही कोई जाति नहीं तो हमारी जाति कहां से आ गई ! वैसे भी जब एक वच्चा किसी मज्जहब विशेष अथवा जाति विशेष के परिवार में जन्म लेता है और यदि आप उसके जन्म लेते ही उसकी किसी अन्य जाति अथवा मज्जहब के अनुयायी की गोद में पलने-पनपने की व्यवस्था कर दीजिए तो आपको स्वयं ही पता चल जाएगा कि एक दिन वह उस जाति विशेष अथवा मज्जहब विशेष, जिसमें उसने पालन पोषण प्राप्त किया है, के नशे में अपने जन्म देने वाले माता-पिता को ही खाने को दौड़ता है। और ऐसा कर के वह अपने आपको बहुत बड़ा धर्मात्मा मान कर अजीब से सुख की अनुभूति भी करता है। जरा सोचो, यह हमारा कितना बड़ा दुर्भाग्य है, जिस के आज हम बुरी तरह से शिकार हैं।

इतना कह कर वह एक क्षण के लिए रुके। फिर उन्होंने आगे कहना शुरू किया—ईश्वर को हम सृष्टि निर्माता स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार एक कलाकार को अपनी हर कला-कृति से प्यार होता है, ठीक ऐसे ही इस अलौकिक कलाकार परम पिता परमात्मा को भी अपनी कलाकृतियों से निस्सीम प्यार है। जिस प्रकार एक कलाकार यह कभी सहन नहीं कर सकता कि उस

की किसी भी कलाकृति का अपमान किया जाए या उसे तोड़-फोड़ दिया जाए, भले ही साथ-साथ उस कलाकार की अनेकों प्रकार से प्रशंसा भी की गयी हो; इसी प्रकार परम कलाकार परमात्मा को भी यह सहन नहीं हो सकता कि उसकी स्तुति तो की जाए पर उसकी प्यारी कला (इन्सान) को पैरों तले रौंदा जाए।

एक ओर वह महात्मा बड़ी तल्लीनता से ये सब कुछ कह रहे थे और दूसरी ओर मेरे मन को पुरातन महापुरुषों के आदेश झिझोड़ रहे थे। वे आदेश मुझे रह-रह कर धिक्कार रहे थे कि हे मूर्ख, तू कितना गिरा हुआ इन्सान है कि तू पढ़ता कुछ और रहा और करता कुछ और ही रहा। पढ़ने को तो तू ने भी बड़े ही ऊँचे-ऊँचे स्वर में पढ़ा है :

मनुर्भव.....मनुष्य बनो

अथवा

हरि सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः
ईश्वर सभी भूत प्राणियों में विद्यमान है।

अथवा

स्मृत्यां शिरस्थ निवास जगत्प्रणामे
मेरा सिर जगत् के सम्मुख झुक जाता है, जिसमें मेरा पर-
मात्मा विराजमान है।

अथवा

जड़ चेतन जग, जीव जत सकल राम मय जानि ।
वंदऊ सब के पद कमल सदा जोर जुगपानि ॥
इधर मैं ये आदेश स्मरण करके आतुरता का अनुभव कर रहा था, उधर उस समय वह महात्मा इस आतुरता को और उद्दीप्त

करते हुए फरमाने लगे कि कहने को तो हम कहते हैं :

न को बैरी ना ही वेगाना, सगल संग हमको बन आई ।

हम यह भी बड़े गर्व से कहते हैं :

एक पिता एकस के हम बारक ।

इतना ही नहीं, हम ऊंची-ऊंची आवाजों से यह भी गाते हुए नहीं थकते :

अव्वल अल्लाह नूर उपाया कुदरत के सब बन्दे ।

एक नूर तें सब जग उपजया कौन भले कौन मन्दे ॥

यहीं तक ही बस नहीं बल्कि हम अरदासों अथवा याचनाएं करते हैं :

तेरे भाणे सरबत का भला ॥

पर जुरा सोचकर यो देखो कि हम अपने जीवन में कर क्या रहे हैं ? हम तो ठीक इसके विपरीत इस प्यारी सृष्टि को उजाड़ फैंकने में ही गर्व का अनुभव करते हैं । ये सब सुनकर मेरा मन एक अजीब सी अनुभूति से विभोर हो उठा । मुझे रह-रह कर महापुरुषों के ये वचन स्मरण हो आने लगे ॥

आत्म वत सर्वभूतेषु ।

अथवा

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया

सबका भला करो भगवान सबका सब विधि हो कल्याण वेद का यह आदेश भी बारम्बार मन के तारों को झंकृत कर रहा था कि मिल के चलो, मिल के बोलो आदि । दूसरी ओर वह महात्मा कहते चले जा रहे थे—वैर-भाव का कारण केवल मात्र धर्म, जाति, वर्ण आदि का सही अर्थ न समझ पाना है । काश ! हम इनकी

सही पृष्ठ-भूमि को समझने में सफल हो जाएं तो भेद-भाव की भावना स्वतः हमारे दिलों से दूर हो जाए।

उस महात्मा ने कुछ विस्तार से धर्म, जाति एवं वर्ण की जो व्याख्या की, उसे थोड़े से शब्दों में आप के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूं। धर्म की व्याख्या करते हुए वह बोले—

जितना धर्म शब्द के अर्थ का अनर्थ हुआ है, सम्भवतः आज तक किसी और शब्द का नहीं हुआ होगा। धर्म का सीधा-सादा सा अर्थ है—धारण करने योग्य अर्थात् कर्त्तव्य। परन्तु धर्म को मजहब का पर्याय मान कर इस की दुर्गति की जा रही है। कुछ महानुभाव यह कहते हुए सुने जाते हैं कि अपने धर्म को छोड़ कर दूसरे के धर्म का अनुसरण करना महापाप है। और अपनी इस धारणा का समर्थन भी वे गीता जैसे महान् ग्रन्थ के द्वारा करते हैं। वे बेचारे इतना भी नहीं जानते कि जिस समय भगवान् कृष्ण ने ऐसा आदेश दिया, उस समय जिन मजहबों को हम धर्म की संज्ञा देते हैं; इनका अस्तित्व ही न था। भगवान् कृष्ण का समय युगों के हिसाब से न सही, यदि हम आधुनिक इतिहास वेताओं के मतों को ही सम्मुख रख कर करें, तो भी हमें स्वीकार करना होगा कि भगवान् कृष्ण आज से कम से कम पांच-छह हजार वर्ष पहले हुए थे। और जिन्हें आज हम ईसाई, यहूदी, पारसी, बौद्ध, सिख अथवा मुसलमान आदि धर्मों के नाम से अभिहित करते हैं, इन सब का जन्मकाल दो-ढाई हजार वर्ष से आगे नहीं जाता। अस्तु, जिन्हें हम आज धर्म की संज्ञा देते हैं, वे धर्म तब विद्यमान नहीं हो सकते। हां, यदि हम धर्म का सही अर्थ कर्त्तव्य लगाएं तो हमें मानना होगा कि अपने कर्त्तव्य को छोड़कर दूसरे के कर्त्तव्य को अपनाना ही निःसन्देह

दुःख का बहुत बड़ा कारण है ।

उस महात्मा ने इस तथ्य को ठीक रूप से मेरे मन में बिठा देने के लिए एक छोटी-सी, पर बड़ी ही शिक्षाप्रद, बाल कथा कह सुनाई—

एक बार एक कुत्ता, जिसका कर्तव्य है कि वह रात को अपने स्वामी की धन सम्पत्ति की रक्षा करे, रात को पहरा देने के बजाय गहरी नींद में सो गया । रात को कुछ चोरों ने उसके स्वामी का घर लूटना चाहा । परन्तु जैसे ही वे घर के विशेष कमरे की ओर कदम बढ़ाने लगते तो कुत्ते की बजाय एक गधा, जिसका कर्तव्य बोझा ढोकर स्वामी की सेवा करना होता है, हींग (रेंक) उठता ताकि उसके स्वामी का घर लुटने से बच जाए । बूधर गधा जोर-जोर से हींगता (रेंकता), उधर चोर दबे पांव पीछे हट जाते । स्वामी की नींद उस गधे की चित्कार सुन कर खुल जाती पर उसे किसी प्रकार से किसी चोर आदि की आशंका न होती । जब गधा कई बार हींगा तो स्वामी गुस्से में गधे को बुरी तरह पीटने लगा कि कमबख्त ने बिना किसी मतलब उसकी नींद खराब कर दी । जब गधे को मार पड़ रही थी तो कुत्ते की भी नींद खुल गई । मार खाने के बाद गधे ने दीन भाव में कुत्ते से पूछा, “भाई कुत्ते ! जब तू रात को भौंकता है, तब तेरी तो खूब सेवा की जाती है । मैंने भी वही काम किया जो तुम निरन्तर करते हो, पर मेरी पिटाई हो गई । आखिर क्यों ?”

इस पर कुत्ता मुस्करा कर बोला, “गधे भाई ! तुम कितने नाममश हो । तुम इतना भी नहीं जानते कि तुम्हारा कर्तव्य बोझा ढोना है, जब कि मेरा धर्म रात को भौंक-भौंक कर अपने स्वामी

को सावधान करना है। तुमने अपना धर्म छोड़ कर दूसरे के धर्म का अनुसरण किया है, जिसके कारण तुम्हें यह दुःख उठाना पड़ा है।”

ठीक ऐसे ही हमारे भी कुछ व्यक्तिगत, कुछ सामाजिक एवं कुछ नैतिक या राजनैतिक धर्म होते हैं। यदि हम उन धर्मों को, जो हमारे लिए निहित हैं, निभाते हैं तो हमारी प्रशंसा हुए बिना नहीं रह सकती, परन्तु यदि हम इसके विपरीत आचरण करते हैं तो हमें सुख से वंचित रहना पड़ता है। यहां एक बात का और भी ध्यान रखना होगा कि इन कर्त्तव्यों के अनेक क्षेत्र हैं। हमारे कुछ कर्त्तव्य सामाजिक कर्त्तव्यों की कोटि में आते हैं; जैसे सफाई आदि रखना, अपनी वैचारिक स्वतन्त्रता कायम रखते हुए दूसरों के स्वतंत्र विचारों का आदर करना आदि। राजनैतिक धर्मों की कोटि में वोट का स्वार्थरहित होकर ठीक प्रयोग करना, देश की प्रगति के लिए प्रगतिशील शक्तियों से सहयोग करना आदि कर्त्तव्य आते हैं। नैतिक धर्मों में समाज द्वारा निर्धारित तर्क-सम्मत आदर्शों का पालन करना आदि आएंगे। इस विवेचन से यह बात साफ है कि परिस्थितियों में अन्तर के साथ-साथ इन कर्त्तव्य धर्मों में भी अन्तर आएगा। प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग परिस्थितियां होने के कारण इन कर्त्तव्य-धर्मों में विभिन्नता भी होगी। यदि हम धर्म के इस मर्म को समझ जाएं तो अपने-अपने धर्म पालन के कारण आपसी टकराव की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। कौन होगा जो माता-पिता का सम्मान करने, पड़ोसी के दुःख-सुख में भाग लेने अथवा अपने तन-बदन की सफाई रखने आदि कर्त्तव्य धर्मों से किसी को रोकेगा। यदि हम अपने-अपने कर्त्तव्य-धर्म, दूसरे की

स्वतन्त्रता में बाधक बने बिना, निभाते चले जाएं तो धर्म के नाम पर टकराव का कोई कारण ही नहीं रह जाता ।

जैसे मैंने अभी-अभी कहा, हमारे उपरोक्त कर्त्तव्य-धर्मों में विभिन्नता अवश्य होगी । परन्तु एक ऐसा सर्व सांज्ञा धर्म भी है, जो मानव मात्र के लिए है । वह सर्व सांज्ञा धर्म यह है कि हम अपनी चौरासी लाख योनियों में भटकती आत्मा को अडोल, अचंचल, शान्त, एकरस परमात्मा से जोड़ कर इसे जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा दिलाएं । यह धर्म हर उस प्राणी के लिए है जो मानव चोले में इस धरती पर आया हुआ है । इस धर्म में और ऊपर बताए गए धर्मों में भी कोई आपसी टकराव नहीं । यह सर्व सांज्ञा धर्म प्रत्येक मानव की आत्मा से सम्बन्ध रखता है जबकि अन्य कर्त्तव्य-धर्म व्यक्ति विशेष के सामाजिक रहन-सहन से सम्बन्ध रखते हैं । अपने अलग-अलग कर्त्तव्य-धर्मों का पालन करते हुए प्रत्येक इन्सान ने इस सर्व सांज्ञे धर्म का पालन करना है । यह सर्व सांज्ञा धर्म विभिन्नता में एकता का जन्मदाता है । अस्तु, सही धर्म विरोध अथवा भेद-भाव का कारण न हो कर मिलन एवं जुड़ने का एकमात्र साधन है । धर्म का वास्तविक अर्थ समझने वाले महात्मा ने कितने सीधे एवं स्पष्ट शब्दों में इस धर्म की व्याख्या की है :

तजो सब भरम भजो पारब्रह्म ।

कहु नानक अटल एह धर्म ॥

धर्म की उपरोक्त व्याख्या के बाद उस महात्मा ने बड़ी ही गहरी सांस ली और थोड़ा रुक कर फिर फरमाने लगे—

बेटा, इस धर्म से भी बढ़कर जो हानि तथाकथित वर्ण-जाति प्रथा ने संसार को और विशेषतया भारत को पहुंचाई, इसका

विस्तार जानने पर तो मानव के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। भगवान् मनु ने उस समय जिस भावना से मानव जाति का कार्य-विभाजन किया था, निःसन्देह मानव समाज के लिए इस कार्य-विभाजन से बढ़ कर और कोई श्रेयकर भावना नहीं हो सकती थी। उनके सामने समाज की व्यवस्था एवं अनुशासन का प्रश्न था, और उन्होंने इसी तथ्य को सम्मुख रख कर समाज को गुण-कर्म के आधार पर चार भागों में विभाजित कर दिया था, जिन्हें उन्होंने कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की संज्ञा प्रदान की थी। ब्राह्मण का कर्तव्य उन महानुभावों को सौंपा गया जो निश्चित ही ब्रह्म में रमण करने वाले लोग थे और समस्त मानव-जाति को सब प्रकार की, अर्थात् भौतिक एवं आध्यात्मिक विद्या प्रदान कर उनका लोक एवं परलोक सुखी बनाने के प्रयत्न में निरन्तर तन्मय रहते थे। ठीक इसी प्रकार समाज की रक्षा हितार्थ जो सजग प्रहरी के रूप में सदा तत्पर रहते, उन्हें क्षत्रिय के रूप में सम्मानित किया गया और जिन्होंने व्यापार अथवा उद्योग-धन्धों आदि द्वारा समाज की आर्थिक दशा को मजबूत बनाए रखने के कार्य-भार को अपने कंधों पर उठाया, उन्हें वैश्य के नाम से सम्बोधित किया गया; और जिन्होंने इन तीनों की सेवा को अपना कर्म बना लिया, उन्हें शूद्र के नाम से अभिहित किया गया।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, मनुष्य इस कर्म भावना को भूलने लगा। वह जिस प्रकार के काम करने वाले माता-पिता के घर जन्म लेता, भले ही वह उस जैसा कर्म करता या न, अपने आपको उसी प्रकार का सम्पन्न एवं हर प्रकार से योग्य समझने लगा। यहीं तक नहीं बल्कि कुछ और समय बीतने पर तो इस

कर्म-विभाजन ने ऐसी भयानक उलझन का रूप धारण कर लिया कि जिसके परिणामस्वरूप बड़े-बड़े समाज सुधारक भी इस कुप्रथा का निराकरण करते-करते अन्त में स्वयं भी इसके एक प्रकार से शिकार होकर अपना दम तोड़ गए ।

यदि हम आज भी मनु भगवान् की सही भावना के अनुरूप समाज की व्यवस्था करें तो इसमें रत्ती भर सन्देह नहीं कि हमारा आज का अनुशासनहीन समाज फिर अनुशासित समाज का रूप धारण कर सकता है । जरा सोचो, क्या आज के समाज को शिक्षक वर्ग, रक्षक वर्ग, पालक वर्ग अथवा सेवक वर्ग की जरूरत नहीं या ये आज भी किसी रूप में विद्यमान् नहीं ? क्या आज के शिक्षक ब्राह्मण का कार्यभार नहीं सम्भाले हुए ? क्या आज की सेना क्षत्रिय का कर्तव्य पालन नहीं कर रही ? क्या आज के व्यापारी एवं उद्योगपति लोगों के खाने-पीने, पहनने के कार्य को वैश्य रूप में नहीं निभा रहे ? ठीक इसी प्रकार सरकारी कर्मचारी, जिनमें आई० ए० एस० से लेकर छोटे से छोटे चपड़ासी तक आ जाते हैं, क्या शिक्षक, रक्षक एवं पालक वर्ग की सेवा में नहीं जुटे हुए ? दुःख तो इस बात का है कि हम गलत प्रकार के एवं स्वार्थी व लोलुप प्रचारकों के चंगुल में फंस कर इस सत्य को जानते हुए भी इससे आंखें मूंदे बैठे हैं ।

इधर वह महात्मा ये सब कुछ बड़े ही आर्द्र स्वर में कहते जा रहे थे, उधर मेरा मन साथ ही साथ उनके उद्गारों का अनुमोदन करता जा रहा था । वैसे भी मेरे विरोध का कोई कारण न था क्योंकि मैं तो स्वयं पहले से ही इसी प्रकार की विचारधारा का अनुगामी था । मैं स्वयं यह अनुभव कर रहा था कि ऐसी

उलझनों को जन्म देने वालों ने हमारे समाज को पतन के उस गर्त में ला फेंका है, जहां से परम पिता परमात्मा ही कृपा करे तो यह समाज बच सकता है अन्यथा इसके बचाव की और कोई सम्भावना नहीं। मैं रह-रह कर सोच रहा था कि वह दिन कितना दुर्भाग्यपूर्ण था जब कुछ स्वार्थी लोगों ने वैदिक साहित्य के अर्थों के, अपने स्वार्थ के लिए अपनी मनमति के अनुसार, अनर्थ किये। निःसन्देह महापुरुषों ने ऐसा लिखा है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। इसी बात को लेकर कुछ अज्ञानी लालची लोगों ने किसी को ऊंचा और किसी को नीचा मान कर समाज में ऐसे वैर-भाव को जन्म दिया कि जिसका आज तक उन्मूलन नहीं हो पाया। ब्राह्मण का मुख से जन्म लेने का सीधा सा अर्थ है कि जो मुख और उसके आस-पास के अंगों अथवा बुद्धि आदि से काम लेते हैं, अर्थात् ज्ञान आदि का काम जो व्यक्ति करे, उसे ब्राह्मण स्वीकार किया जाए। इसी प्रकार जो भुजाओं का कार्य करे, अर्थात् जिस प्रकार भुजाएं शरीर की सब प्रकार रक्षा करती हैं, इसी प्रकार जो इस समाज रूपी ढांचे की रक्षा करे, उसे क्षत्रिय; और जो काम शरीर में पेट करता है, अर्थात् सब कुछ ग्रहण करता है और आगे उसका सही विभाजन करके शरीर के सारे अंगों का परिपालन करता है, जो इस प्रकार का कार्य करे, उसे वैश्य; क्योंकि वैश्य से व्यापार अथवा उद्योग रूप में खाद्य पदार्थों अथवा खनिज पदार्थों को संग्रहित करता है अथवा उत्पादन करता है और फिर उन्हें सारे समाज के समान कल्याण के हितार्थ बांट देता है। जिस प्रकार हमारे पैर सारे शरीर का भार वहन करते हैं, यही कर्त्तव्य निभाने वाले सेवकों को, अर्थात् सम्पूर्ण समाज की सेवा कार्य करने

वाले महानुभावों को शूद्र का नाम दिया गया ।

हमारा दुर्भाग्य है कि इस व्यवस्था सम्बन्धी विभाजन को आगे चल कर ऊंच-नीच का माध्यम बना कर भारत को ऐसी हानि पहुंचाई गई जिसे युगों तक भी पूरा नहीं किया जा सकेगा । आज स्थिति यहाँ तक पहुंच गई है कि हिन्दुओं की जाति विभिन्नता उस चरम सीमा को छू गई है, जिससे प्रभावित होकर कवि को यह कहने पर विवश होना पड़ा :

हिन्दुअन की जात जात में जात ।

ज्यों केले के पात पात में पात ॥

इधर मैं ये सब सोच रहा था और उधर वह महात्मा विस्तार-पूर्वक समझा रहे थे—

वर्ण-जाति भेद ही नहीं, रंग-भेद के अभिशाप ने भी आज मानव जाति को बुरी तरह डस रखा है । तुम्हें यह जान कर अवश्य हैरानी होगी कि आज के अपने आपको प्रगतिशील और उदारमन कहने वाले लोग जिस बुरी तरह से रंग-भेद का शिकार हो रहे हैं, उसको देख कर तो रोंगटे ही खड़े हो जाते हैं ।

इतना कहते-कहते सहसा वह महापुरुष गम्भीर हो गए और फिर बड़े ही सधे शब्दों में बोले—यह निरंकारी बाबा आज इन्हीं अभिशापों से मुक्त दिखाने के लिए यह प्रण लेता है कि किसी की जाति-पाति अथवा किसी के मजहब या वर्ण के कारण किसी से घृणा मत करो ।

दूसरा प्रण लेने के बाद ज्ञान प्रदान करने वाले महात्मा ने मुझे तीसरा प्रण बताते हुए कहा—आज के बाद तुमने किसी से उसके

खाने-पीने और पहनने के कारण घृणा नहीं करनी। तुम्हें भी वह सब कुछ खाने-पीने और पहनने की इजाजत होगी जो तुम्हारे मन को भाता है, क्योंकि खाने-पीने और पहरावे का सम्बन्ध हमारे शारीरिक पालन-पोषण और विकास से तो है पर इसका सम्बन्ध आत्मज्ञान से किंचित् मात्र भी नहीं।

उपरोक्त बात सुनते ही मेरे मन में एक तूफान उठा और मैं मन ही मन वहाँ से उठ कर अपने घर को जाने का निश्चय करने पर विवश हो गया। पर वह महात्मा मेरे चेहरे के हाव-भाव एवं उतार-चढ़ाव को देख कर तुरन्त समझ गए कि मेरे मन को कोई शंका बुरी तरह परेशान कर रही है। परिणामतः उन्होंने मुझे समझाते हुए फ़रमाना शुरू कर दिया—मेरे बन्धु ! संसार इस खान-पान को बहुत बड़ा महत्व प्रदान करता है। संसार का तो यह निश्चित मत है कि 'जैसा अन्न वैसा मन'।

यह सुनते ही मैंने एकदम कहा—इसमें असत्य ही क्या है ? स्वयं भगवान् कृष्ण ने इसके सम्बन्ध में ऐसा ही आदेश दिया है। गीता का आदेश है कि भोजन तीन प्रकार का होता है : सात्विक, राजसिक एवं तामसिक। एक सद्पुरुष को केवल सात्विक भोजन का ही सेवन करना चाहिए।

उस महात्मा ने बड़े ही शान्त भाव में कहा—हम इस तथ्य से कब इन्कार करते हैं। पर आप सात्विक भोजन किस को स्वीकार करते हैं ?

मैंने सहज भाव में कहा कि जो भोजन स्वादिष्ट हो, मन भाता हो, स्वास्थ्यवर्द्धक हो, आलस्य रहित हो, चांचल्य को उत्पन्न करने

वाष्प न हो, वही सात्विक भोजन है।

मेरा इतना कहना था कि उस महात्मा ने एकदम कहा—ठीक, बिल्कुल ठीक। परन्तु संसार में अनेक प्रकार की जलवायु के क्षेत्र हैं। जलवायु के प्रभाव से स्थान विशेष के व्यक्ति विशेष को वहाँ की जलवायु के अनुरूप ही खाना-पीना एवं पहनना होता है। प्रकृति का कुछ ऐसा ही नियम है। ज़रा सोचे, हम जो शीत काल में खाते-पीते अथवा पहनते हैं और जिन पदार्थों के सेवन को उस ऋतु विशेष में हम स्वादिष्ट, स्वास्थ्यवर्द्धक एवं सुरक्षिपूर्ण स्वीकार करते हैं, उन्हीं विशेष पदार्थों का यदि हम ग्रीष्म ऋतु में सेवन करना शुरू कर दें तो वे निश्चित ही सुखद परिणामों के स्थान पर दुःखदायी सिद्ध होंगे। ठीक इसी प्रकार जिन पदार्थों का सेवन वर्षा काल में सात्विकता की भावना को जन्म देता है, उन्हीं पदार्थों का बसन्त ऋतु में सेवन निश्चित ही राजसिक अथवा तामसिक प्रभाव उत्पन्न करने का कारण बनेगा।

वैसे भी आप अपने देश के ही भिन्न भागों एवं प्रदेशों के निवासियों के खान-पान अथवा पहरावे का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करें तो आपको मानने में संकोच न होगा कि उत्तर भारत के खान-पान एवं पहरावे में और दक्षिण अथवा पूर्व भारत के खान-पान एवं पहरावे में आकाश-पाताल का अन्तर है। ठीक इस प्रकार का अन्तर भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में देखा जा सकता है। कारण स्पष्ट है कि हमारा भारत जलवायु के आधार पर कई क्षेत्रों में बंटा हुआ है। जो पदार्थ पंजाब, हरियाणा अथवा यू० पी० सी० पी० को ईश्वर ने प्रदान किए हैं, वे बंगाल आदि प्रदेशों को उस मात्रा में प्रदान नहीं किए। परिणामतः पंजाब का व्यक्ति दूध, दही

एवं गेहूँ का बहुत बड़ी मात्रा में प्रयोग करने में समर्थ है, जबकि इसके विपरीत बंगाल आदि प्रदेशों के निवासियों को चावल, मछली का सहारा लेना पड़ता है। यदि बंगाली नकल करके इस भोजन को छोड़ कर उत्तरी भारत की जलवायु में उत्पन्न खाद्य पदार्थों का सेवन करने लगे तो निश्चित ही उन्हें कई प्रकार की शारीरिक तथा आर्थिक अनियमितताओं का सामना करना पड़ेगा। यही बात पीने अथवा पहरावे के सम्बन्ध में भी सही स्वीकार की जानी चाहिए।

यह कह कर वह महात्मा एक बार फिर रुके। पर कुछ ही क्षणों के पश्चात् बड़े ही शांत भाव से और गम्भीर मुद्रा में फ़रमाने लगे—यदि आप अपने देश की सीमाओं से बाहर निकल कर थोड़ा देखो तो यह तथ्य और भी स्पष्ट रूप में आपके सामने आकर आपको मानने पर मजबूर कर देगा कि संसार का खान-पान और पहरावा कभी भी और किसी प्रकार से भी एक जैसा नहीं हो सकता। इंग्लैंड आदि पश्चिमी देशों में, जहाँ ठण्ड का सदा ही साम्राज्य रहता है, हमारे गर्मी प्रधान देशों के समान खान-पान अथवा पहरावा कदापि नहीं हो सकता। वे ब्राण्डी अथवा मदिरा का शरीर के तापमान को सही बनाए रखने के लिए सेवन बहुत अधिक मात्रा में करते हैं। इसी प्रकार उनके और हमारे खाने और पहरावे के सम्बन्ध में भी अन्तर होना स्वाभाविक है। अस्तु, इसी अनेकता में एकता को खोज निकालने की आवश्यकता है।

मेरे चेहरे पर सम्भवतः अब भी कोई सन्तुष्टि के चिन्ह न पाकर वह मेरे कन्वे पर हाथ रख कर पूछने लगे कि क्या मैं ऐसा स्वीकार नहीं करता ? उत्तर में मैंने कुछ उत्तेजित होकर कहा कि मैं

स्वीकार करता हूँ कि संसार में ऐसी समानता आ पाना असम्भव है, परन्तु मेरा प्रश्न यह है कि आप यह कैसे मान बैठे हैं कि हमारे भोजन का, हमारे विचारों अथवा हमारी भक्ति-भावना से कोई सम्बन्ध ही नहीं ? हमारे पूर्वज और आज के सभी मत इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं कि हमारा आचार-विचार हमारी वेश-भूषा और आचार-व्यवहार पर ही निर्भर है और आप हैं कि इसे मूल से स्वीकार ही नहीं करते । मेरे इस प्रश्न को सुन कर पहले तो वह कुछ निराश से हुए परन्तु तुरन्त ही मेरे विचारों और संस्कारों को सम्मुख रखते हुए हंस कर फ़रमाने लगे—देखो बेटा, मैंने तो वस्तुतः तुम्हें अब तक यही समझाने की कोशिश की है; परन्तु न जाने तुम्हें इस बात की समझ क्यों नहीं आई ? मैंने अब तक जो कुछ कहा है उसका केवल अर्थ यही है कि जिस प्रकार के खान-पान एवं पहरावे की सुविधाएं प्राप्त हैं, उन की जलवायु के अनुसार वहीं सात्विक है । यदि इसके विपरीत वे आचरण करते हैं तो निश्चित ही उनको मन की चंचलता और शरीर की क्षीणता का सामना करना पड़ेगा । बेटा ! एक बात और भी याद रखो कि हमारे शरीर में वात, पित और कफ़ में से किसी का भी अभाव अथवा आधिक्य हो सकता है । हमें उसे भी ध्यान में रख कर खान-पान की योजना बनानी पड़ती है । यही नहीं, आज के विज्ञान की खोज के अनुसार हमें विटामिन, साल्ट्स, प्रोटीन आदि जरूरतों को भी ध्यान में रखना पड़ता है । सच तो यह है बेटा कि हम क्या खाएं, क्या पीएं और क्या न पीएं, इसके लिए हमें किसी विशेषज्ञ से सलाह लेनी चाहिए ।

इतना सब कुछ सुन लेने के पश्चात् भी मेरा मन यह सब

कुछ मानने को किसी प्रकार से भी तैयार न था। अस्तु, मैंने फिर थोड़ा उत्तेजित होकर पूछा कि कुछ विशेष चीजें खाना क्या पाप नहीं? कुछ विशेष चीजें पीना क्या हराम नहीं? कुछ खास प्रकार की वेश-भूषा को अपनाना क्या भक्ति के मार्ग में रुकावट नहीं?

वह महात्मा मेरे अभिप्राय को समझ कर मुस्कराते हुए कहने लगे—आप मुझसे यह निर्णय क्यों लेना चाहते हैं? मैं कोई उन चीजों का प्रचारक अथवा समर्थक नहीं, जिन को आप खाना-पीना अथवा पहनना पाप समझे बैठे हैं। मैं तो केवल इतना ही कहना चाहता हूँ, और बाबा जी का भी इतना-सा ही आदेश है, कि आप दूसरों के खानपान अथवा पहरावे के कारण किसी से घृणा न करें। हाँ, आप अपने बारे में स्वतंत्र हैं। यदि खान-पान के नाम पर घृणा की भावना आपके मन में बनी रही, अथवा संसार में दूसरों के प्रति इतनी सी उदारता भी न बरती गई तो मानवीय सम्बन्ध, जो पहले ही दिन-प्रतिदिन कटुता का रूप धारण करते चले जा रहे हैं, कुछ ही अर्से में उस सीमा को जा छूएंगे जहाँ से फिर लौटना प्रायः असम्भव हो जाएगा। इस का नतीजा यह होगा कि मानव मानव के खून का प्यासा बन कर सृष्टि को नष्ट-भ्रष्ट कर के ही दम लेगा। अस्तु, वेटा ! हमारा मिशन, जिसका इस समय सबसे बड़ा ध्येय है कि सारा संसार मानवीय आधार पर एकता की डोरी में बांधा जा सके, इन भेद-भावों से ऊपर उठ कर, भ्रातृ-भाव को अपनाकर जीने का आदेश देता है। इसीलिए यह प्रण लिया जा रहा है। मैं आशा करता हूँ कि आप भी मानवीय एकता को देखने के लिए इस प्रण को

जीवन का अभिन्न अंग बनाने में संकोच नहीं करेंगे कि जो उचित और पवित्र समझते हों, खाओ-पीओ और पहनो, पर दूसरे के अधिकार क्षेत्र में न तो दखल ही दो और न ही इस कारण किसी से घृणा ही करो ।

ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से मैंने इस प्रण को स्वीकार तो कर लिया, परन्तु ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भी बहुत समय तक इस परेशानी ने मेरा पीछा न छोड़ा । परिणामतः मैं जहाँ कहीं जाता, इस समस्या का समाधान पाने की कोशिश में जुटा रहता । एक बार मुझे कलकत्ता जाने का अवसर मिला । वहाँ भ्रमण करते-करते मैं मछली मार्केट में जा पहुँचा । बड़बू से मेरा दम घुटने लगा । बड़ी कठिनाई से मैं वहाँ से भाग निकला और बहुत दूर जाकर साँस लिया । दूर खड़े हो कर मार्केट में आने-जाने वालों का नज़ारा देखने लगा । बड़े-बड़े वेशधारी वहाँ से मछली खरीद रहे थे । यहाँ तक कि कुछ ऐसे लोगों को भी मछली खरीदते देखा, जिन्हें आध्यात्मिकता को ध्यान में रखते हुए, मेरे विचार में, मछली खरीदना तो दूर रहा इसके विरोध में सत्याग्रह करना चाहिए था । मैं न रह सका तो एक बंगाली साधु-महात्मा को जा घेरा और उस पर प्रश्नों की झड़ी लगा दी कि आप कैसे महात्मा हैं जो आप ऐसा तामसिक भोजन करते हैं ? यह तो जीव-हत्या है । वह महात्मा इतना-सा ही कह कर चल दिए कि भाई, तुम लोग पंजाबी हो, तुम्हें ईश्वर ने खाने-पीने को इतने खाद्य पदार्थ दे रखे हैं कि जिनका हम स्वप्न भी नहीं ले सकते ! हमारे लिए तो ईश्वर ने केवल मछली व चावल की ही सृष्टि की है, और जाते-जाते यह भी कह गए कि भाई, जीव-हत्या तो तुम भी कम

नहीं कर रहे। तुम क्या सोचते हो कि जो कुछ तुम खा रहे हो, वह सब कुछ जीव रहित ही है ?

उसके चले जाने के पश्चात् मुझे वहीं के एक सज्जन से पता चला कि वह महात्मा कृष्ण परमहंस के श्रद्धालु भक्तों में से एक थे। उसी सज्जन ने यह भी बताने में कोई संकोच न किया कि परमहंस स्वयं भी इस प्रकार का ही भोजन करते थे। मेरे लिए ये सब बातें दंग कर देने वाली थीं। कलकत्ता में राम कृष्ण मिशन वालों का एक बहुत बड़ा भवन है, जिसमें बड़ा ही शान्त और रहानी प्रकार का वातावरण है। अनेकों महात्मा वहां अक्सर आते-जाते रहते हैं। मैंने मन ही मन में निश्चय किया कि मैं वहाँ तुरन्त जाकर इस विषय पर चर्चा करूंगा। परिणामतः उसी शाम को मैं वहां पहुंच गया। अनेकों विद्वानों से इस विषय पर खुल कर बातचीत हुई। सच तो यह है कि उन्होंने भी वही तर्क प्रस्तुत किए जो ज्ञान प्रदाता महापुरुष ने ज्ञान प्रदान करते समय दिए थे। हां, एक बात जो उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कही, वह यह थी कि ब्रह्मज्ञानी पर खान-पान अथवा पहरावे आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि उसके हर कर्म के पीछे दातार प्रभु की इच्छा निहित होती है। दूसरे शब्दों में ब्रह्मज्ञानी जो कुछ करता है, ईश्वर इच्छा से प्रेरित होकर करता है। इसलिए वह कर्म के हर प्रभाव से निर्लिप्त होता है। मेरे इस प्रश्न का कि जैसा अन्न वैसा मन होता है, उत्तर देते हुए उन्होंने जो कुछ फरमाया, उसका सारांश कुछ इस प्रकार से है—

आत्मा और मन का निश्चय ही सम्बन्ध है। परन्तु जिस प्रकार का सम्बन्ध हमारे कर्मकाण्डी विद्वानों ने समझ रखा है, वह

भ्रामक धारणा पर आधारित है। पहली बात तो यह है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के जलवायु के आधार पर सब का खान-पान और पहरावा अलग-अलग है। दूसरी बात कि अन्न का सम्बन्ध उस खाने विशेष से न होकर उस व्यक्ति विशेष की कमाई से है। यदि भ्रम-पूर्वक एवं ईमानदारी से कमाए हुए धन से कुछ खरीद कर खाया-पीया जाता है, तो वह मन में शान्त भाव को ही जन्म देता है, परन्तु जिसे हम सात्विक से सात्विक भोजन समझते हैं, यदि वह छल-कपट, धोखा-फरेब और किसी का खून चूस कर कमाए धन से खरीदा गया है तो वह निश्चित ही तमोगुण का जन्मदाता सिद्ध होगा।

इस विषय में उन्होंने जो उदाहरण दिया, उसको सुनकर मुझे चुप्पी साधनी पड़ी। उन्होंने बताया—हम में से एक प्रचारक सज्जन अभी-अभी यूरोप का दूर करके लौटे हैं। उन्होंने अपने निजी अनुभव के आधार पर एक पते की बात बताई कि वहां के लोग हमारे देशवासियों से कहीं अधिक देशभक्त और चरित्र-सम्पन्न हैं। हमारे देशवासी कोई ऐसा अवसर हाथ से नहीं जाने देते, जब यह उपदेश न देते हों कि हमें लोभ-लालच से ऊपर उठ कर देश की सेवा करनी चाहिए। और लोभ-लालच से बचने का एकमात्र तरीका यह बताया जाता है कि हमारा भोजन शुद्ध होना चाहिए। पर दुःख से कहना पड़ता है कि शुद्ध भोजन का सेवन करने वाले हमारे देशवासियों ने लोभ-लालच वश देश से ऐसे-ऐसे द्रोह किए हैं जिन्हें पढ़-सुन कर इंसान के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जबकि मांस-शराब का सेवन करने वाले विदेशियों ने इस लालच-लोभ से ऊपर उठ कर अपने देश के लिए इतने बड़े-बड़े बलिदान किए हैं

कि जिनको देखकर देवता भी हृश-हृश कर उठते हैं।

मुझे एक बार आचार्य रजनीश का एक प्रवचन सुनने का अवसर लाजपत भवन, नई दिल्ली में प्राप्त हुआ। उस में उस महात्मा ने भी यूरोपीय लोगों के लोभ-लालच से परे रह कर काम करने की भरपूर प्रशंसा की थी और बताया था कि काम, क्रोध, लोभ, मोह के जितने हम शिकार हैं, उतने वे लोग नहीं, हालांकि यह सर्वविदित है कि उनका खान-पान हमारी दृष्टि में अति तामसिक एवं राजसिक है। हाल ही में मुझे भी विश्व के एक बड़े भाग का भ्रमण करने का अवसर मिला। वहाँ के निवासियों से मिल कर मैं भी उसी निर्णय पर पहुँचा, जिस पर उक्त दोनों महात्मा पहुँचे थे।

काफ़ी अरसा पहले मुझे श्री रणवीर जी, मुख्य सम्पादक उर्दू 'मिलाप' के विचारों को पढ़ने का अवसर मिला। रणवीर जी आनन्द स्वामी जी के सुपुत्र हैं और आर्य समाज में उनका गणमान्य व्यक्तियों में स्थान है। उन्होंने दो बार प्रश्नों का उत्तर देते हुए बताया कि यदि कोई व्यक्ति उबला हुआ मांस खाता है और तेज मसालों का प्रयोग नहीं करता तो उसमें कहीं कम तामसिकता होती है जबकि इसके मुकाबले में कई प्रकार की खट्टी-मीठी और तेज मसालों से बनी सब्जियाँ कहीं अधिक तामसिक होंगी।

इस प्रकार मुझे स्वीकार करना पड़ा कि हुजूर बाबा जी के उसी आदेश में सच्चा सुख निहित है कि हम वही खायें जो हमें उचित लगता है, हम वही पीएं जो हमें मुआफ़िक आता है और हम वही पहनें जो हमें रुचिकर लगता है, परन्तु हम किसी के खाने-पीने और पहनने के कारण उससे घृणा न करें, क्योंकि संसार भर में इस प्रकार की भिन्नता रहना प्रकृति के नियम के एकदम अनुकूल है।

अस्तु, हमें मानवीय सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए इतनी-सी उदारता बरतनी ही होगी। इसके सिवा और कोई चारा नहीं।

जो महात्मा अपने सदगुरु के आदेशानुसार मुझे ज्ञान प्रदान कर रहे थे, काफी सुलझे हुए व्यक्तित्व के स्वामी लगते थे और साथ ही मनोविज्ञान से पण्डित भी। मुझसे ज्ञान चर्चा करते-करते भांप चुके थे कि मैं किसी बात को एकदम स्वीकार करने को तैयार नहीं। अस्तु, चौथा प्रण लेने से पहले उन्होंने मुझसे बड़ी ही चेतनता के साथ एक बात पूछी, 'क्या आप भगवान् राम और भगवान् कृष्ण को मानते हैं?'"

मैंने बड़े ही सहज भाव में निवेदन किया—हाँ, मानता हूँ, पर ऐसे नहीं जैसे कि मेरे कुछ सनातन धर्मी भाई-बहिन मानते हैं।

तो आप कैसे मानते हैं?—उनका अगला प्रश्न था।

भगवान् का अवतार न मानकर केवल एक को मर्यादा पुरुषोत्तम तथा दूसरे को योगिराज स्वीकार करता हूँ—मैंने उत्तर दिया।

वह बड़ी प्रसन्न मुद्रा में फ़रमाने लगे—तो आप इनको आदर्श पुरुष स्वीकार करते हैं। और यदि आप ऐसा स्वीकार करते हैं तो आप का यह भी कर्तव्य बन जाता है कि जो आदर्श उन्होंने अपने जीवन द्वारा प्रस्तुत किए हैं, आप उनका अक्षरशः पालन करें।

मैंने भी बड़े तपाक से उत्तर देते हुए कहा—इस में इन्कार की क्या बात है? मैं तो समझता हूँ कि ये दोनों महापुरुष भारतीय धर्म के मूर्त रूप हैं। यदि हम भारतीय आज भी उनके आचरण का अनुसरण करना शुरू कर दें तो हम निश्चित ही सब प्रकार से

सुखी हो सकते हैं ।

इसके बाद उन्होंने मेरे से फिर पूछा—आपने महात्मा बुद्ध का जीवन चरित्र भी गौर से पढ़ा होगा । उत्तर में मैंने 'हाँ' में सिर हिला दिया । वह आगे बोले—तो आप जानते होंगे कि आखिर उन्हें भी तन-बदन को गला देने वाली तपस्या से मुंह मोड़ कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करने पर मजबूर होना पड़ा था । वह भी समाज के कर्तव्यों से अधिक देर तक दूर नहीं रह पाए थे ।

मैंने बड़े ही सहज भाव में निवेदन किया—इसमें सन्देह ही क्या है ? समाज से भागकर समाज का उद्धार हो, भी कैसे सकता है ?

आप ने श्री गुरु नानक देव जी से लेकर श्री गुरु गोविन्द सिंह जी महाराज के जीवन चरित्रों को भी जरूर पढ़ा होगा । आप जानते हैं कि ये महानुभाव भी इसी समाज में रह कर, इस समाज के सब कर्तव्यों का पालन करते हुए भक्ति की आखिरी मंजिल को छूने में सफल हुए—यह उनका अगला प्रश्न था । मुझे इसे भी स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं हुआ ।

वह महात्मा चाहते तो इस समय चौथे प्रण की बात चला सकते थे, परन्तु न जाने क्या सोचकर एक गहरी सांस लेते हुए फ़रमाने लगे—हमारा देश दिन-प्रतिदिन पतन के गड्ढे में गिरता चला जा रहा है । हमारे देश का कोई भी व्यक्ति मेहनत मजदूरी कर के खुश नहीं । हृष्ट पुष्ट नौजवान विरक्ति के नाम पर साधू, सन्त, फ़कीर बन कर समाज पर बोझा सिद्ध हो रहे हैं । देश गरीबी के शिकंजे में कसा भूख से आहें भर रहा है ।

आप खुद ही सोचिए कि हम नाम तो लेते हैं राम और कृष्ण का और जीवन यापन करते समय हमारे मस्तिष्क में कोई

ऐसे महात्मा-सन्यासी की कल्पना होती है जो समाज से दूर किन्हीं गुफाओं या कन्दराओं में छिपकर जीवन व्यतीत कर रहा होता है। भले ही वह महात्मा विशेष भी घूम-घुमाकर हमीं गृहस्थियों के दरवाजों पर रोटि-कपड़े का सवाल लिए खड़ा दिखाई देता है। वेद की आज्ञा है कि हमें सौ वर्ष जीने की कामना केवल कर्म करते हुए ही करनी है। कर्म से विरक्त भक्ति भावना समाज के लिए सदा ही घातक सिद्ध हुई है और आज तो इस भावना ने बड़ा ही भयावह रूप धारण कर लिया है। अस्तु, बेटा ! आज के बाद तुम्हें यह प्रण लेना होगा कि गृहस्थ आश्रम में रह कर ही, समाज के सभी कर्त्तव्यों का पालन करते हुए, अपनी जीवन यात्रा को सफल करना है। वेशधारी साधु, सन्त, फकीर बन कर दर-दर पर भीख नहीं मागनी ।

सहसा इस प्रण को सुनकर मैं चौंक उठा । “तो आप चाहते हैं कि मैं सदा ही मोह माया के जाल में इसी तरह बन्ध कर तड़पते, तरसते जीवन बिता दूँ ?” यह कह कर मैं एक सेकेन्ड के लिए रुक गया और इसके पश्चात् मैंने बड़े ही आदर सम्मान से निवेदन किया कि मैं यह प्रण लेने को विल्कुल तैयार नहीं हूँ, क्योंकि यह प्रण हमारी आश्रम व्यवस्था के विरुद्ध आचरण करने पर बाध्य करता है ।

यह सुनकर वह महात्मा थोड़ा मुस्कराए और फरमाने लगे— मैं तो पहले ही जान गया था कि आप इस प्रण को स्वीकार करने में जरूर ही थोड़ा बहुत संकोच से काम लेंगे । तभी तो मैंने इस प्रण को लेने से पहले आपको इतिहास प्रसिद्ध आदर्श महापुरुषों का इतिहास कह सुनाया, ताकि आप धर्म के सही मार्ग को अपनाने

योग्य हो सकें। याद रखो, जिस मार्ग पर हमारे महापुरुष चलते रहे हैं, उसी का अनुसरण करना ही सच्चे धर्म को अपनाना है। थोड़ा सोचकर देखो कि अगर जीवन के कर्त्तव्यों को निभाना मोह माया के जाल में फंसना है तो भगवान् राम जब वन में चले गए थे तो वापिस लौट कर दोबारा मोह माया में क्यों फंसने चले आए ? और यदि आप यह कहें कि भरत को उन्होंने वैसा वचन दे रखा था तो थोड़ा उस समय को स्मरण करो जब सीता जी को रावण उठा कर ले गया था। मर्यादा पुरुषोत्तम राम चाहते तो उस समय संसार के सामने 'आदर्श' प्रस्तुत कर सकते थे कि नारी जाति माया जाल है, इसका पीछा करना या इसके मोह-मायाजाल में फंसकर रोना चिल्लाना धर्म विरुद्ध है। पर इतिहास साक्षी है कि उस सच्चे महात्मा ने सिद्ध कर दिया कि नारी जीवन की संगिनी है, इसकी उपलब्धि परमावश्यक है। एक बात और भी स्मरण रखो कि महापुरुष कभी-कभी बड़े उद्देश्य के लिए साधारण कर्त्तव्यों का त्याग भी कर देते हैं। जैसे स्वयं भगवान् राम ने प्रजा हितार्थ सीता माता का परित्याग कर दिया या महर्षि स्वामी दयानन्द ने घर-बार छोड़ कर समाज की दुर्दशा सुधारने का बीड़ा उठा लिया। पर आपको मानना ही होगा कि समाज का त्याग उन्होंने भी नहीं किया। वे आजीवन इसी समाज में विचरण करते रहे। निःसन्देह उन्होंने साधारण गृहस्थी-सा जीवन व्यतीत नहीं किया, परन्तु गृहस्थ के कर्त्तव्यों को न निभाने का उपदेश भी उन्होंने कहीं नहीं दिया।

ये सब सुनकर मैं रह न सका और मैंने कहा—भगवान् मनु ने जो आश्रम व्यवस्था का आदेश दिया है, महर्षि दयानन्द ने

तो उसका बड़े जोरदार शब्दों में समर्थन किया है। इस प्रण को लेने से तो उस आश्रम व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने की पूरी सम्भावना है।

यह सुनकर वह महात्मा मुस्कराते हुए बोले—इस प्रण का आश्रम व्यवस्था की भावना से सीधा कोई विरोध नहीं। थोड़ा सोच कर देखो तो पता चलेगा कि आश्रम व्यवस्था के पीछे एक ही भावना काम कर रही थी कि व्यक्ति अपने पूरे जीवन में सभी प्रकार के कर्त्तव्यों को निभाने में समर्थ हो सके। थोड़ा गहराई से सोचने वाला सहज में समझ जाता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति स्वयं अपनी और समाज की सेवा और गृहस्थ कर्त्तव्यों को पालन करने की शक्ति का संग्रह करता है। गृहस्थ आश्रम तो है ही सब कर्त्तव्यों के निभाने का महान् केन्द्र। वानप्रस्थ आश्रम गृहस्थ के साथ-साथ मानवीय कल्याण हितार्थ फिर शक्ति का संग्रह करना है और सन्यास आश्रम समाज के प्रति और गृहस्थियों के मार्ग दर्शन के लिए अपने जीवन को अर्पित कर देना है। इस विश्लेषण के पश्चात् आप स्वयं ही अनुमान लगा सकते हैं कि एक व्यक्ति के लिए समाज से भागने या समाज पर बोझ बनने का आदेश कहीं नहीं।

हां, आज हमारे महात्मा (निरंकारी बाबा) ने जब यह देखा कि आश्रम व्यवस्था या विरक्ति के नाम पर व्यक्ति सब कर्त्तव्यों से मुंह तोड़ता चला जा रहा है और सन्यासियों के आवरण में छली-कपटी लोग जनसाधारण का शोषण करने पर उत्तर आए हैं, तो इसी ठोस तथ्य को सामने रखते हुए उन्होंने आदेश दिया कि सच्चे ब्रह्मवेत्ता को अपने ही गृहस्थ में रहते हुए, और

निष्काम भाव से सब कर्त्तव्यों का पालन करते हुए पानी में कमल के समान अपने जीवन की यात्रा जारी रखनी चाहिए। वह महात्मा एक क्षण के लिए फिर रुके और फिर बड़े ही भरे हुए स्वर में फ़रमाने लगे—हमारे देशवासी कितने अभागे हैं कि आज अपने पूर्वजों के आदर्शों के एकदम विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। जरा उस नज़ारे को आंखों के सामने लाओ जब कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन कर्म भावना से विरक्त होकर सन्यास ग्रहण कर लेना चाहता है। वह अपने क्षत्रिय कर्त्तव्य से मुह मोड़ लेता है, जिसे निभाना ही उसका परम धर्म था। यह कहानी किसी एक अर्जुन की ही नहीं बल्कि संसार के अधिकांश लोगों की है। आज हर कोई कर्त्तव्य पथ से भ्रष्ट हुआ जाता है। तभी तो भगवान् कृष्ण को अपना अमर सन्देश गीता के रूप में उच्चारण करना पड़ा। यह दुःख की बात है कि आज उसी कृष्ण के पुजारी कर्त्तव्य कर्मों के करने को मोह-माया जंजाल बताते नहीं थकते। कोई सोचने का कष्ट नहीं करता कि हमारे आदर्श योगियों ने भी गृहस्थ आश्रम की या समाज की अवहेलना नहीं की। वे स्वयं ऐसा जीवन व्यतीत करते रहे और हमारे लिए भी ऐसा ही आदेश छोड़ गए। इतिहास के पन्ने उल्टने पर पता चल जाएगा कि यह प्रण धर्म के एकदम अनुसार है। जरा महात्मा जनक का ही जीवन देखो। वह महात्मा देह होते हुए भी विदेह कहलाए। जिसका स्पष्ट अर्थ है कि उन्होंने भी कभी गृहस्थी का परित्याग नहीं किया। सन्त परम्परा के अनुयायियों का तो यह निश्चित मत है कि व्यक्ति को कहीं जंगल बियावान में जा कर या तन में भस्म रमा कर या फटे पुराने चीथड़े पहन कर पागलों का सा जीवन व्यतीत करने की रती भर

भी जरूरत नहीं। हां, जरूरत है तो वेद अथवा ईश उपनिषद के उस आदेश की ओर ध्यान देने की, कि हे मनुष्य ! इस सारे संसार के सभी पदार्थ तुम्हारे उपभोग के लिए बनाए गए हैं। तू इनका त्याग भाव से उपभोग करने में स्वतंत्र है। परन्तु सदा स्मरण रख कि तू इनका स्वामी नहीं है। इनका स्वामी केवल एक परम पिता परमात्मा ही है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अपना समस्त जीवन निर्लेप भाव से व्यतीत करने का आदेश दिया जाता है। सन्त परम्परा के प्रवर्तकों का भी ऐसा ही संदेश है :

गृहस्थ में जो रहे उदास

कहो नानक हम ताके दास

या

हसन्दयां खिलन्दयां खावन्दयां पहनन्दां विच्चे होवे मुक्त ॥

मैं ये सब कुछ सुन कर कोई विशेष सन्तुष्ट न हो पाया। अस्तु, उन्हें बीच में ही टोकते हुए निवेदन किया—मान लो ये बातें ठीक भी हों, तो क्या मनुष्य को अपने प्रभु की खोज के लिए कुछ नहीं करना चाहिए ? और मेरा भी अब तब यही विश्वास है कि ईश्वरानुभूति के लिए मनुष्य का काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार आदि के जाल से निकल कर कहीं एकान्त में उस प्रभु की प्राप्ति के लिए चित् की वृत्तियों को एवाग्र करना परम अनिवार्य है। इसलिए आपने अभी तक जो कुछ फ़रमाया है, इससे तो एक व्यक्ति कभी भी अपने परम लक्ष्य को पाने में समर्थ नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार तो वह सदा इसी दुनिया में खोया रहेगा और परिणामतः दुनिया का मायाजाल उसे बुरी तरह घेरे रखेगा।

वह महात्मा कुछ तीव्र स्वर में बोले—मैं आपको अभी तक

यही तो समझाने की कोशिश कर रहा हूँ। दुर्भाग्य से आपने केवल उन लोगों के कच्चे उपदेशों को ही पढ़ा है, जिनके विश्वासानुसार परमात्मा की प्राप्ति केवल समाज से भागने पर ही सम्भव है, जबकि मैं आपको उन ब्रह्मवेत्ताओं के निजी अनुभव बता रहा हूँ, जिन्होंने इस परम सत्ता को पाकर शाश्वत आनन्द का अनुभव किया है। उन्हीं का आदेश है कि यदि एक व्यक्ति को कोई ऐसा ब्रह्मवेत्ता पथ प्रदर्शक मिल जाता है, जो उसे भी सहज में इस असीम शक्ति से जोड़ देता है तो वह व्यक्ति भी ब्रह्मानुभूति करके सदा ब्रह्म में ही रमण करते हुए इन सभी बन्धनों से मुक्त रहता है। फिर उस व्यक्ति विशेष के लिए ये काम-क्रोध आदि पथ के अवरोधक न होकर केवल सेवक मात्र रह जाते हैं। बेटा ! जरा सोचकर देखो कि जो लोग घर-बार छोड़ कर जंगलों या पर्वतों की शरण लेते हैं, क्या वे अपने मन को वशीभूत करने में सफल हो जाते हैं? याद रखो, देखने में तो ऐसा लगता है कि अब वे इन विकारों से बहुत ऊपर उठ गए हैं परन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसे व्यक्ति एक पल में ही ठोकर खा गए। जब कभी भी उनके सामने माया का कोई छोटा-सा भी आकर्षण आ प्रस्तुत हुआ, वे फिसल गए। वहाँ जंगलों-पर्वतों में वे इसलिए शान्त और केन्द्रित दिखाई देते हैं, क्योंकि वहाँ इन आकर्षणों का अभाव होता है। जहाँ आकर्षण है ही नहीं, वहाँ आकर्षणों के प्रति आकर्षित न होने में भला वीरता ही कैसी? सच्चे योगी तो वे ही कहला सकते हैं जो निरन्तर इन आकर्षणों में विचरण करते हुए, इनका प्रभाव स्वीकार नहीं करते। खैर, इस बात को छोड़िए। हम थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि ऐसे लोग अवश्य ही मानसिक शान्ति पाने में सफल

हो जाते होंगे, तो भी एक बात जरूर ध्यान में रखो कि ऐसे लोगों की शान्ति उन्हीं के साथ जन्म लेती है और उन्हीं के साथ समाप्त हो जाती है। उनकी शान्ति का और कोई भागीदार नहीं बन पाता, जबकि समाज में विचरण करने वाला महात्मा मानव मात्र में शान्ति का वितरण करने का सौभाग्य प्राप्त करता है। मानव जीवन की असफलता इसी में है कि व्यक्ति स्वयं सुखी हो और मानव मात्र को सुखी बनाए।

इतना कहने के पश्चात् वह महात्मा मेरे कन्वे को झिझोड़ते हुए फ़रमाने लगे—जरा तुम हीं विचार कर बताओ कि एक व्यक्ति, जिसके चार-पांच बच्चे हों, बूढ़े माता-पिता हों और कोई एक आध छोटा बहन-भाई भी हो और इन सब की व्यवस्था बस उसे ही करनी हो, यदि कहीं ऐसे व्यक्ति के मन में कर्म के प्रति वैराग्य जाग उठे और वह इन सब को रोता, चिल्लाता छोड़कर शान्ति की खोज के लिए जंगलों या पर्वतों की शरण लेने के लिए धुपचाप चल पड़े, तो क्या ऐसा व्यक्ति कभी भी चैन से बैठ सकेगा? क्या उन बच्चों की चित्कार, क्या उस पत्नी की बेबसी, क्या उन माता-पिता की आहें उसे कहीं भी आराम करने देंगी? नहीं, बिस्कुल नहीं। मैं मानता हूँ कि कभी समय ऐसा अवश्य था जब हमारा देश सब प्रकार से सुसम्पन्न था। सांझे परिवार की प्रथा थी। खाने-पीने को सब वस्तुएं जुटाने के लिए घर का एक-आध सदस्य ही काफी होता था। उस समय यदि कोई व्यक्ति घर-गृहस्थी के कर्त्तव्यों से मुंह मोड़ भी जाता था, तो उस पर आश्रित व्यक्तियों को विशेष अन्तर नहीं पड़ता था। परन्तु आज तो युग ही पलट गया है। आज तो यदि घर के सारे सदस्य मिलकर भी कमाने में जुट

जाएँ तो भी सही ढंग से परिवार का पालन पोषण नहीं हो पाता । इस समय तो घर के एक सदस्य की पलायन प्रवृत्ति के कारण घर भर को गली कूचे में जा-जाकर भीख मांगने पर विवश हो जाना पड़ेगा । हमारा समाज गहले ही दबा हुआ है, और अधिक दब जाएगा । और यदि यह भावना न दबी तो विश्वास जानो कि वह दिन दूर नहीं जब इस देश को अपनी उदर पूर्ति के लिए धनी देशों के सामने घुटने टेक देने पड़ेंगे । वैसे भी स्मरण रहे कि आज का युग अर्थ-व्यवस्था का युग है । जो देश, जाति अथवा समाज आज इस व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने की ओर से थोड़ी सी भी लापरवाही बरतेगा, उसकी सभ्यता, संस्कृति धर्म-परम्पराएँ सब नष्ट-भ्रष्ट हो कर रह जाएँगी । अब आप स्वयं ही अन्दाजा लगाएँ कि इस महात्मा ने समय की माँग को सम्मुख रखते हुए किस प्रकार से मानव मन में इस कर्म की प्रेरणा को उद्भूत करने का सफल प्रयास किया है ।

मैंने उनके इस धारा प्रवाह प्रवचन को बीच में ही रोकते हुए फिर एक बार निवेदन किया कि आश्रम व्यवस्था से क्या इस उद्देश्य की पूर्ति सम्भव नहीं ? और साथ ही मैंने बड़े ही आदर पूर्वक अपना यह विश्वास भी प्रकट किया कि इस प्रकार की भावना को अपना लेने से हम अपने पूर्वजों द्वारा दी गई वैराग्य की अत्युत्तम भावना से बहुत दूर जा पड़ेंगे । और हो सकता है कि एक दिन हम भी इसी तरह भावना के प्रभावाधीन भौतिकता के चंगुल में जुरी तरह फँस जाएँ । अस्तु, हमें इस माया के उपभोग के भाव को दमन करके चिरञ्जिव भाव से जीवन व्यतीत करते हुए परम शान्ति का लाभ प्राप्त करना चाहिए :

उस महात्मा ने मेरे विचारों को बड़े ध्यान से सुना और थोड़ा हक कर फिर फ़रमाना शुरू किया—मैं मानता हूँ कि परम शान्ति की प्राप्ति के लिए विरक्ति अथवा वैराग्य का भाव परम आवश्यक है, परन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि हम विरक्ति अथवा वैराग्य के सही रूप को समझने में बहुत बड़ी भूल से काम ले रहे हैं। हमारे पूर्वजों ने वैराग्य का जो सही रूप हमारे सम्मुख अपने जीवन द्वारा प्रस्तुत किया है, हम उनका अनुकरण न करके कुछ अनाड़ी महात्माओं के सिद्धान्तों को अपने जीवन का लक्ष्य मान बैठे हैं।

आप थोड़ा सोच-समझ से काम ले तो आपको पता चल जाएगा कि हमारे पूर्वजों ने कर्म में विरक्ति का कहीं भी न तो आदेश ही दिया है और न स्वयं ही कर्म से विरक्त हुए हैं। उनका यदि कोई आदेश है तो वह केवल इतना है कि हमें कर्म समर्पित भाव से करना चाहिए। कर्म करते हुए हमारे मन में फलासक्ति की भावना जन्म नहीं लेनी चाहिए। भगवान् कृष्ण ने इसी महान् तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए ही तो वेदों, उपनिषदों की सार रूप गीता की रचना की है। मैं पहले ही बता चुका हूँ कि हमारे पूर्वजों ने कर्म से भागने का आदेश कभी भी नहीं दिया है। आदेश दिया है तो केवल इस बात का कि मनुष्य को सभी प्रकार से धन-धान्य से भर-पूर जीवन का आनन्द लाभ करना चाहिए। भक्ति का अर्थ निष्क्रियता या निष्कर्मण्यता नहीं, अपितु ईश्वर प्रदत्त शक्तियों का सद्व्रयोग है। जो लोग ईश्वर की शक्तियों का दमन करके उनका उन्मूलन करने पर उतारू हैं, वे योगी नहीं, हठ योगी हैं। सच पूछो तो वे बहुत बड़े अपराधी हैं, क्योंकि वे ईश्वर द्वारा प्रदत्त शक्तियों का कंजूस की भाँति न आप ही प्रयोग करते हैं और न दूसरों

को ही करने देते हैं। बाकी यह बात कि आश्रम व्यवस्था द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति सम्भव है या नहीं, तो इस के लिए हमारा निवेदन इतना ही है कि आश्रम व्यवस्था बाकी परम्पराओं की तरह अपना सही रूप खो चुकी है। आज हम लाख प्रयत्न करके भी उसे जीवित नहीं कर सकते। यह व्यवस्था एक ऐसे आलीशान भवन के समान है, जिसकी हर ईंट अपने स्थान को छोड़ चुकी है। इसे मुरम्मत करके ठीक नहीं किया जा सकता बल्कि इसे गिरा कर नया भवन बनाने की जरूरत है। नया भवन भी ऐसा हो जो युग की मांग को पूरा करता हो, और हो भी हमारे शाश्वत आदर्शों के एकदम अनुकूल। अस्तु, इसी ठोस सच्चाई को ध्यान में रखते हुए आज के इस महात्मा ने यही अनुभव किया है कि हमें श्री राम, श्री कृष्ण, राजा जनक आदि महात्माओं की तरह ही गृहस्थ आश्रम के सभी कर्तव्यों को बड़ी ईमानदारी से निभाते हुए ही आज के युग के साथ क्रम से क्रम मिला कर चलना है।

शेष रही वेश-भूषा की बात; कोई समय था जब हमारे पूर्वजों ने तप, त्याग और परोपकार की भावों की अभिव्यक्ति के लिए भगवे वेश को बहुत बड़ा सम्मान प्रदान किया था, परन्तु कुछ गलत किस्म के स्वार्थी लोगों ने इस भगवे परिवेश में वे धिनौने काम किए कि तोवा ही भली। जो चेतन बुद्धि के लोग होते हैं, वे निश्चित ही वेश-परिवेश से बहुत दूर रह कर मानवीय सिद्धान्तों का प्रचार करने में रत रहते हैं ताकि कोई किसी प्रकार से भी अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए किसी का शोषण न कर सके। अस्तु, स्पष्ट है कि हमारा महात्मा न तो आश्रम व्यवस्था की सही भावना का विरोधी है और न ही तप-त्याग के जीवन का विरोधी है, वह

विरोधी है तो केवल उस आडम्बर का, जो इन मान्यताओं के नाम पर हो रहा है। हमारे महात्मा का विरोध उन लोगों से है जो इन मान्यताओं की आड़ लेकर मानव को पथ-भ्रष्ट कर रहे हैं।

जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि हम इन कर्तव्यों को निभाते हुए परमात्मा को पा सकते हैं या नहीं, तो उसके सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आप थोड़ा सबर करें तो मैं वह भी आपको अभी बताए देता हूँ। ये सब सुनने के बाद मैंने इस चौथे प्रण के विषय में भी अपनी स्वीकृति दे दी।

चौथे प्रण के विषय में मेरी स्वीकृति के बाद उस महात्मा ने आगे क्रमाया—अब तक जो कुछ कहा गया है, उसको हम थोड़े में 'कर्मयोग' का नाम दे सकते हैं। कर्म के बन्धनों से मुक्त होने के लिए अनुरक्ति में विरक्ति के दर्शन करने की परम आवश्यकता है, अर्थात् संसार के सब कर्म करते हुए भी इन में लिप्त न होना ही कर्मयोग है। परन्तु कर्मयोग के लिए भी अहं के त्याग की नितान्त आवश्यकता है और अहं के त्याग के लिए प्राणि-मात्र से प्रेम करने की जरूरत है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए आज इस महात्मा ने इन प्रणों की व्यवस्था की है कि तन, मन, धन को प्रभु-परमात्मा की देन स्वीकार करें। किसी की जाति-पाँति, वर्ण आदि से घृणा न करें। किसी के खान-पान और पहरादे में व्यर्थ दखल न देते फिरें। और इस प्रकार अहं भाव से रहित होकर कर्म में प्रवृत्त हो जाएं अर्थात् समाज का अभिन्न अंग बनकर इसी के कल्याण के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दें तो हम निश्चित ही जीवन मुक्ति का आनन्द लाभ कर सकते हैं। मैं उन के इस लम्बे चौड़े भाषण को सुनकर कुछ छटपटा-सा गया और

उन्हें बीच में ही टोकते हुए बोला कि आप तो परमात्मा का साक्षात्कार करा देने की बात कह रहे थे, पर न जाने क्यों आप मुझे इधर उधर की बातों में उलझाए जा रहे हैं। वह महात्मा मेरी इस उत्तेजना को देखकर फ़रमाने लगे—ठीक है, तो आप तैयार हो जाइए और सभी ओर से ध्यान हटाकर, जो कुछ मैं कहूँ, केवल उसकी ओर ही ध्यान को केन्द्रित कीजिए। एक क्षण रुक कर फिर फ़रमाने लगे कि देखो, मैं अपने सद्गुरु के आदेश से और उनकी कृपा से ही आपको ब्रह्म की अनुभूति कराने जा रहा हूँ और आपको भी सद्गुरु की इजाज़त के बिना किसी अन्य को इसकी अनुभूति कराने की चेष्टा नहीं करनी होगी। यदि आपको

सभी उन्होंने इतना ही कहा था कि मैं विगड़ उठा। मैंने कहा कि इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो कुछ आप मुझे बता रहे हैं, वह सत्य नहीं है। यदि सत्य होता तो आप मुझे इस प्रण के शिकंजे में इस तरह कसने की कोशिश न करते।

वह महात्मा बड़े ही गम्भीर स्वर में बोले—ऐसी बात नहीं है। परन्तु इस प्रण के पीछे बहुत बड़ा राज छिपा हुआ है। और.....।

मैं झट ही बोल उठा—क्या आप फिर इस पर अपना एकाधिकार जमाए रखना चाहते हैं? आप चाहते हैं कि लोग आपके पास ही आते रहें और आपका हलवा-माण्डा चलता रहे, अन्यथा आपको ऐसा प्रण लेने की जरूरत ही क्या थी? होना तो यह चाहिए कि आप हमें आदेश दें कि हम इस सत्य से मानवमात्र को अवगत कराएँ। सत्य पर किसी की 'मनोपली' (एकाधिकार) नहीं होनी चाहिए।

वह महात्मा एकदम गम्भीर हो गए और फिर बोले—
ऐसी कोई बात नहीं है। आप थोड़ा शान्त हो जाएं तो मैं आपको
बताऊँ कि इस प्रण का कितना बड़ा महत्त्व है। नर आप तो पूरी
बात सुने बिना ही भड़क उठते हैं।

खैर, मैं उनके आदेशानुसार चुप होकर बैठ गया और
उन्होंने फ़रमाना शुरू किया—आप तो स्कूल में पढ़ाते हैं। अस्तु,
आप तो यह बात अच्छी तरह से जानते होंगे कि आपके सही
ढंग से पढ़ाने पर कई बार सारी कक्षा को ही, जो कुछ आपने
समझाया होना है, बड़ी अच्छी तरह समझ में आ जाता है। परन्तु
यदि वे सभी विद्यार्थी इस समझ से लाभ उठाने के लिए घर जा
कर अपना-अपना स्कूल खोल बैठें तो आप ही अनुमान लगाइये कि
उनसे पढ़ने वालों की क्या गति होगी, वे उनसे कितना कुछ समझ
पाने में सफल हो पाएँगे? पढ़ाने या समझाने के लिए किसी व्यक्ति
का किसी बात को केवल जान लेना ही काफी नहीं होता, अपितु उसे
उससे पहले कई अवस्थाओं से गुज़ारना होता है। उसे पढ़ाने और
समझाने की कला को सीखने के लिए 'ट्रेनिंग कोर्स' करना पड़ता
है, तब कहीं जा कर वह इस पढ़ाने अथवा अध्यापन कार्य में
योग्य हो पाता है। इस ट्रेनिंग के बिना वह जिस किसी को भी
पढ़ाने-लिखाने की कोशिश करेगा, उसे ही ले डूबेगा।

मैं उनके इस तर्क को सुनकर रह न सका और बीच में ही
बोल उठा—ठीक है, सभी विद्यार्थी ऐसा करने में समर्थ न भी हो
पाएँ तो भी कोई न कोई विद्यार्थी जो ऐसा निकल ही आता है, जो
अपने अध्यापक द्वारा समझाई गई बात को अन्य किसी विद्यार्थी
को समझाने में अवश्य सफल हो जाता है।

वह मेरी इस बात को गुन कर थोड़ा मुस्कुराते हुए बोले—
 आप यही भूल कर रहे हैं। यदि आप थोड़ा बारीकी से सोचें तो
 आपको पता चलेगा कि वह लकीर का फ़कीर ही बन कर केवल
 उतना ही कुछ समझा पाएगा, जितना उसे स्मरण रह जाएगा। यदि
 पढ़ने वाले विद्यार्थी ने 'क्रास कुअंस्चन' कर दिया तब ऐसा क्यों
 हुआ, कैसे हुआ तो वह सटपटा कर रह जाने के अतिरिक्त और कुछ
 नहीं कर पाएगा। अस्तु, अध्यापन कार्य शुरू करने से पहले ट्रैनिंग
 पारिदड पूरा कर लेना जरूरी है।

सच बात तो यह है कि मैं उनके इस तर्क से कोई विशेष
 प्रभावित न हुआ था। वह भी मेरे चेहरे के उतार-चढ़ाव को देख
 कर यह समझ गये थे। अस्तु, उन्होंने आगे समझाया—उस गढ़ाई
 की बात छोड़िये, थोड़ा इसी बात की ओर ध्यान दीजिए कि जो
 प्रण आप सत्य स्वीकार कर चुके हैं, यदि कोई चतुर विद्वान् व्यक्ति
 आपको मिल जाए और आप उससे प्रण लेने बैठ जाएं कि आज के
 बाद आपने तन, मन, धन परमात्मा का ही समझना है, और यदि वह
 आप से पूछ बैठे, “परमात्मा तो सब प्रकार से परिपूर्ण है, उसे
 मेरी इन चीज़ों की जरूरत नहीं है। अस्तु, मैं इन्हें उसकी क्यों
 समझूं? इसके विपरीत इन्हें मैं अपना समझ कर, इन्हें अपने प्रयोग
 में लाकर अपने जीवन को सुखी बना सकता हूं। यदि मैं इनको
 प्रभु का समझ दूँ तो मैं इनसे विरक्त हो जाऊंगा और इस विरक्ति
 का स्पष्ट परिणाम होगा कि हमारे जीवन की प्रगति रुक जाएगी।
 हम बिल्कुल निराश व्यक्ति का-सा जीवन व्यतीत करने पर उतर
 आएंगे।” उराकी ये बातें सुन कर आप पर क्या प्रभाव पड़ेगा?
 क्या यह सत्य नहीं कि आप इस बात को सुन कर उसे तो क्या

बढ़ता प्रदान करेंगे, आप स्वयं ही इस प्रण के प्रति शंका करने पर विवश हो जाएंगे। परिणामतः 'हम तो डूबेंगे सनम, तुम को भी ले डूबेंगे, की हालत उत्पन्न हो जाएगी। लेकिन यदि आप इस प्रण को केवल समझने मात्र से नहीं बल्कि इसे जीवन में उतार कर देख चुके हों तो आप कभी किसी के प्रश्न से विचलित नहीं होंगे, क्योंकि इस प्रण विशेष के दैवी परिणामों को आप भली प्रकार से अपने जीवन में देख चुके होंगे। आप अनुभव से जान चुके होंगे कि इन्हें अपना समझ कर जीवन के विकास में रुकावट उत्पन्न होती है या ईश्वर को अर्पित कर के। आप इस तथ्य को जब अपने जीवन में साकार कर लेंगे तो आपका कल्याण भी अवश्यम्भावी है, और फिर इस बढ़ता के पश्चात् जब गुरु आज्ञा द्वारा आप इस तथ्य पर किसी जिज्ञासु को बढ़ता प्रदान करेंगे तो वह भी बड़ निश्चयी होकर शाश्वत सत्य को समझने में समर्थ हो पाएगा और आप भी सन्तुष्ट मन होकर दैवी आनन्द का लाभ करेंगे।

थोड़ा रुक कर और न जाने क्या सोच कर उन्होंने फिर फ़रमाना शुरू किया—अज्ञानता एक रोग है। गुरु डाक्टर रूप में इस रोग का अपनी ज्ञान शक्ति द्वारा नाश करता है। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि एक रोगी डाक्टर के पास अपने रोग की चिकित्सा के लिए प्रस्तुत हुआ और डाक्टर की सही दवाई से उसका रोग नष्ट हो गया। जरा सोच कर देखो कि यदि कहीं वह रोगी स्वयं ठीक हो जाने के उपरान्त घर में जाकर औषधालय खोल बैठे, तो क्या आपके विचार में वह कभी सफल अथवा कुशल डाक्टर हो पाएगा? हाँ, इसके विपरित यह तो हो सकता

है कि वह उस डाक्टर का यश करने में लग जाए। जिस किसी रोगी को मिले उसे डाक्टर का पता दे, उसे उस डाक्टर के पास पहुंच कर इलाज कराने की प्रेरणा दे। इस प्रकार वह जहां रोग निवारण में सहायक सिद्ध होगा वहां वह उस डाक्टर विशेष के ऋण से मुक्त भी हो पाएगा। थोड़ा रुक कर वह फिर बोले—वैसे भी जिस की वस्तु हो, उससे पूछ कर ही और उसकी इजाजत से ही किसी अन्य को वह वस्तु देना चाहिए। मान लीलिए, आपको कोई अपने घर की ताली दे दे और घर की सभी चीजों से अवगत करा कर आपको उन्हें प्रयोग करने की भी छुट दे दे, तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि आप उन चीजों का वितरण स्व इच्छा से करना शुरू कर दें। इस विषय में एक बात और भी स्मरण रखो कि कल को यदि वह आपका इनका वितरण करने का आदेश देता है, तो इस आदेश को मानना भी आपका कर्तव्य हो जाता है।

मैंने सिर झुकाते हुए निवेदन किया कि चलो, मैं आपके इस प्रण पर भी चलने का वायदा करता हूं। आप मुझे अब जल्दी से ईश्वर की बात समझाइये।

पांचों प्रणों के लिए मुझ से स्वीकृति लेने के बाद वह महात्मा मुझे ज्ञान प्रदान करने के लिए थोड़ा सजग होकर बैठ गए और मुझ से पूछा, “आप का क्या नाम है?”

मैंने नाम बताते हुए कहा कि मुझे लोग प्रायः ‘शास्त्री’ के नाम से पुकारते हैं, परन्तु वस्तुतः मेरा नाम जय राम दास आर्य है।

वह कुछ क्षणों के लिए ध्यान मग्न हो गए और दातार प्रभु से याचना करने लगे कि, हे प्रभु ! अपने इस बच्चे पर कृपा करो

कि यह आप के वास्तविक रूप को समझ कर लोक और परलोक के सुखों का भागीदार बन सके। ऐसी प्रार्थना करने के पश्चात् सन्तोंने फ़रमाना शुरू किया—आपने अभी-अभी अपना नाम 'शास्त्री' भी बताया और जय राम दास भां। यदि कोई व्यक्ति केवल आपके इन नामों का सुमिरण ही करे, परन्तु आप से परिचय प्राप्त न करे तो आप ही बताइए कि उसको क्या लाभ हो पाएगा? पर यदि वह आपके इन नामों की जानकारी के साथ-साथ आप से मित्रता भी गांठ ले तो अवश्य ही आपकी हर शक्ति और आपकी हर सम्पत्ति का सहज में ही उपभोग करने में सफल हो जाएगा। अस्तु, मैं आपको अब उस प्रभु-परमात्मा की अनुभूति कराने जा रहा हूँ, जिसका आज तक आप कई नामों से निरन्तर सुमिरण करते चले आ रहे हैं। परन्तु कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं कर पा रहे, क्योंकि पानी-पानी कहने मात्र से कभी किसी की प्यास नहीं बुझती और न ही रोटी-रोटी कहने से किसी की भूख ही भान्त हो पाती है। एक बात और भी स्मरण रखो कि यदि हम रोटी के नाम के साथ उसकी प्रतिमा या कोई मूर्ति बनाकर रख लें और चाहें कि हमारी भूख मिट जाए तो यह भी असम्भव है। भूख हमारी केवल खाना खाने से ही मिट सकती है। इसी प्रकार जब तक हम सच्चिदानन्द परमात्मा की अनुभूति अपनी आत्मा द्वारा नहीं कर लेते, हमारी आत्मा शाश्वत आनन्द प्राप्त नहीं कर सकती। इस से भी बढ़ कर एक और बात आपको अपने मन में नैठानी होगी कि आकारयुक्त पदार्थों का तो कोई चित्र अथवा प्रतिमा या मूर्ति बन भी सकती है, और हो सकता है कि कुछ क्षणों के लिए हमारा मन उस से शान्त भी हो जाए, परन्तु निराकार की तो कोई

तस्वीर अथवा कोई प्रतिमा बनाई ही नहीं जा सकती। इसलिए निराकार के स्थान पर उसकी कोई अन्य आकृति हमारे आत्मिक आनन्द का कारण नहीं बन सकती।

संसार में कुछ ऐसे भी लोग हैं जो स्वामी को छोड़कर उसकी दासी शक्तियों को ही स्वामी समझ कर उन्हीं की सेवा शुश्रूषा में जुट जाते हैं, परन्तु उन दासी शक्तियों से वे उतना ही लाभ उठा सकते हैं जितनी शक्ति की मालिक वे दासी शक्तियाँ होती हैं। ऐसे लोग भूल जाते हैं कि जो स्वयं किसी के आश्रय पर जीवित है, वह हमारा क्या सहारा बन पाएगा। अस्तु, हमें केवल ऐसे भगवान् का ज्ञान प्राप्त करना होगा जो हर प्रकार से पूर्ण है। तो अब मैं आप से कुछ बातें पूछूंगा। आप उनका उत्तर, 'हां' या 'ना' में देते जाएं, ताकि मुझे पता चलता जाए कि आपको मेरी कौन-सी बात स्वीकार है और कौन-सी नहीं।

यह सुनकर मैं केन्द्रित मन होकर और उनके चेहरे पर दृष्टि जमाकर बैठ गया और वह भी थोड़ा अधिक सावधान होकर फ़रमाने लगे—आप तो जानते ही हैं कि एक सृष्टि है और एक सृष्टि निर्माता, एक रचना है और एक इस रचना का रचयिता। यह सृष्टि और उसका रचयिता आपस में ओत-प्रोत हैं। ब्रह्मानुभूति के लिए हमें इन दोनों को ही ठीक तरह समझना होगा। पहले मैं आपको सृष्टि रचना में सहायक तत्वों की जानकारी प्रदान करने का प्रयत्न करना चाहूंगा क्योंकि सृष्टि से आप बहुत सीमा तक पहले से अवगत हैं। वैसे भी, स्थूल को समझना सरल है जब कि सूक्ष्म की अनुभूति चेतनता की मांग करती है। मान लीजिए, एक थाली बारीक पीसी हुई चीनी से भरी पड़ी है और उसमें गिनती

के ८, ९ बादाम पड़े हैं। यदि कोई आप से कहे कि आप इस बारीक चीनी और बादामों को अलग-अलग कर दीजिए और कहीं आप चीनी बीनना शुरू कर दें तो निश्चित ही आपको काफ़ी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। परन्तु यदि आप थोड़ा होशियारी से काम लेकर उन बादामों को उठा कर अलग कर दें तो आपने उस व्यक्ति विशेष का आदेश भी भान लिया और काम भी बड़ी आसानी से करने में सफल हो गए। अस्तु, निराकार परमात्मा, जो सूक्ष्म अति सूक्ष्म है, को छुने की जगह पर मैं इसमें स्थित स्थूल रचना को अलग करके बताने जा रहा हूँ, ताकि आपको इसके पश्चात् निराकार की जानकारी सहज में ही प्राप्त हो जाए।

अपनी बात को जारी रखते हुए वह आगे बोले—ऊपर सूरज, चांद और सितारे हैं। क्या ये भगवान् हैं या भगवान् की रचना ?

मैंने बड़े ही सहज भाव में निवेदन किया कि ये भगवान् की रचना हैं। तो उन्होंने बड़ी चतुरता से पूछा कि आपको इन्हें भगवान् मानने में क्या आपत्ति है ? मैंने बताया कि इनमें वे गुण नहीं, जो भगवान् में होने चाहिए।

भगवान् में क्या गुण हैं ?—यह उनका अलग प्रश्न था।

भगवान् अकाद्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अजर, अमर, अविनाशी, सर्वगुण सम्पन्न, सर्व शक्तिमान्, सर्वत्र व्यापक, एकरस, अडोल, अचंचल और अजन्मा होना चाहिए—मैंने उत्तर दिया।

—पर क्यों ?

इसलिए कि यदि भगवान् ऐसा न हुआ तो हम जिस 'मुक्ति' अर्थात् शाश्वत आनन्द की कामना से उसकी स्तुति एवं उपासना करना चाहते हैं, वह हमें उपलब्ध नहीं हो पाएगा। जो स्वयं ही विकार युक्त है एवं परिवर्तनशील है, वह हमें कैसे अडोल बना

पाएगा ? यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जिस वस्तु का हम ध्यान करेंगे, अन्ततोगत्वा हम भी उसी रूप में परिवर्तित हो जाएंगे। अस्तु, ये सूर्य, चांद, सितारे कदापि भगवान् नहीं हो सकते और जो इनके पूजन-अर्जन में लग जाएंगे, वे निश्चित ही इन्हीं की भान्ति परिवर्तन चक्र में फंसे रहेंगे।

मेरे इस उत्तर से वे बड़े ही प्रसन्न हुए क्योंकि यही बात वह मुझे समझाना चाहते थे। इतना सुनकर वह कुछ आगे कहना ही चाहते थे कि मेरे अन्दर का अहम् जाग उठा और मैं उसे दवा न पाने के कारण झट ही बोल उठा—ऊपर केवल जो सूरज, चांद, सितारे हमें दिखाई दे रहे हैं यही नहीं बल्कि ऐसे लाखों अन्य ग्रह-उपग्रह और भी हैं, जिनका हमें सम्भवतः आज भी ज्ञान नहीं। गुरु नानक देव जी ने शायद समाधिरथ अवस्था में इनका कुछ आभास किया था। तभी तो उन्होंने 'लख आकासां आकास, लख पातालां पाताल' कहा है। सोलर सिस्टम (Solar System) का अध्ययन करने पर...

उन्होंने बीच में ही टोकते हुए कहा—आप यही कहना चाह रहे हैं न कि ऊपर केवल ये दिखाई देने वाले ही सूरज, चांद, सितारे नहीं। ऊपर ऐसे भी असंख्यो ग्रह-उपग्रह हैं, जिन्हें हम देख नहीं पाते। ऊपर कितने भी ग्रह-उपग्रह हों, सभी परिवर्तन के शिकार हैं। यदि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो सूरज और चांद भी एक तरह के सितारे या ग्रह-उपग्रह ही हैं। ये अन्य सितारों से वास्तव में बड़े नहीं। ब्रह्माण्ड में कई ऐसे भी सितारे हैं जो सूरज से लाखों गुणा बड़े हैं। लेकिन पृथ्वी से बहुत ज्यादा दूर होने के कारण वे या तो दिखते ही नहीं, और यदि दिखते भी हैं तो बहुत छोटे

दिखाई देते हैं।

यह सब सत्य होते हुए भी इस सच्चाई को नहीं झुल्लाया जा सकता कि एक साधारण जिज्ञासु को ऊपर सूरज, चांद और सितारे, तीन चीजें नजर आती हैं। आप इस बात को इस तरह समझने की कोशिश करें कि किसी विषय के सही अध्ययन के लिए उसे कई अध्यायों में बाँट लिया जाता है। किसी विषय विशेष का अध्याय विशेष में ही पूरा वर्णन किया जाता है। अस्तु, हमारे सद्गुरु ने विषय को सरलता से समझाने के लिए ऊपर के ज्योति पुंजों का प्रतिनिधित्व करने वाले इन ग्रहों का नाम बताकर साधारण जिज्ञासु को आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया है। वरना इन ग्रहों, उपग्रहों की व्याख्या जो अब तक की गयी है, क्या वह पूर्ण है? कदापि नहीं, बल्कि करोड़ों विद्वान्, करोड़ों पुस्तकें भी लिख कर इसकी तुच्छ सी व्याख्या करने में भी पूर्णतया सफल नहीं हो सकते। अस्तु, इतना ही स्मरण रखिए कि ऊपर ये सूरज, चांद, सितारे आदि ज्योति पुंज हैं और ये कितने भी शक्तिशाली क्यों न हों, परन्तु ईश्वर नहीं हैं, क्योंकि ये सभी परिवर्तन के चक्र में तुरी तरह ग्रसित हैं। यह सुनकर मैं चुप होकर बैठ गया और वह जो बताने जा रहे थे, उसकी ओर ध्यान देना की कोशिश करने लगा।

जब उस महात्मा ने भुझे समझा दिया और मुझसे भी इस सत्य की स्वीकृति प्राप्त कर ली कि सूर्य, चांद, सितारे प्रभु परमात्मा न होकर प्रभु की रचनामात्र हैं, तो इसके पश्चात् उन्होंने नीचे की ओर संकेत करते हुए आगे फरमाया—ऊपर की तरह नीचे भी सृष्टि रचना के तीन अंग विद्यमान हैं, जिन्हें अग्नि धरती, जल, अग्नि के नाम से अभिहित करते हैं। इनकी पूजा तो

सूर्य, चांद, सितारों से भी कहीं बढ़कर हो रही है। संसार की जनसंख्या का आधे से अधिक भाग इन्हीं के पूजन-अर्चन में लगा हुआ है और यही कारण है कि मानवीय मन शान्ति पाने के स्याग पर अशान्त होता चला जा रहा है। याद रखो कि मन तो केवल उसी अवस्था में शान्त हो सकता है जब इसे अडोल, अचंचल एवं एकरस का आश्रय प्राप्त हो।

यह एक सर्वविदित वैज्ञानिक सत्य है कि धरती, जल, अग्नि निरन्तर परिवर्तन को प्राप्त हो रहे हैं। वैसे भी इनमें सदा सुख देने की क्षमता नहीं। धरती को ही लो, जब भूचाल आता है तो यह थर-थर कांपने लगती है और कई स्थानों से फट जाती है। इन दर्राड़ों में दबोच कर धरती लाखों को काल के मुंह में फेंक देती है। यदि कोई बदकिस्मत इसका सहारा लेकर बैठ जाए तो आप ही सोच कर देखिए कि क्या कभी उसका मन शाश्वत आनन्द को प्राप्त हो सकेगा ! सच तो यह है कि यह ईश्वर की ऐसी रचना है, जिस पर सही अर्थों में अधिकार करके, इसका विधिपूर्वक प्रयोग करके, हम अपना लौकिक जीवन सुखी बना सकते हैं। इसी प्रकार जल तथा अग्नि के सम्बन्ध में समझा जा सकता है, क्यों कि इनमें भी शाश्वत आनन्द प्रदान करने की शक्ति नहीं। प्यास बुझा कर प्यासे की प्राण रक्षा करने वाला पानी यदि कहीं बाढ़ का रूप धारण कर ले तो कई-कई गाँवों एवं शहरों को बहा कर ले जाय। यही स्थिति अग्नि की है। लगता है कि अग्नि के भयानक रूप से भयभीत होकर ही उस समय के मानव ने इसकी ईश्वर समान पूजा आरम्भ की होगी। आज वैज्ञानिक उन्नति के युग में इन शक्तियों की भयानकता

पर काफी हद तक काबू पा लिया गया है। फायर त्रिगेड की सहायता से मानव अग्नि की भयानकता को चुनौती देने लग पड़ा है। इसी प्रकार पानी के अव्यवस्थित प्रवाह को भी बांधों की सहायता से बांध दिया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये ईश्वर की रचनामात्र ही हैं, और यदि हम चाहें तो इन्हें अपने नियन्त्रण में लाकर इन से मानव जीवन के भौतिक पक्ष को पर्याप्त सुखमय बना सकते हैं।

उनका यह लम्बा-चौड़ा भाषण मेरे लिए कोई विशेष महत्व नहीं रखता था, क्योंकि मैं तो उनसे भी कहीं अधिक इन तीनों को केवल प्रकृति के उपकरण मात्र मानता था और जो लोग इन्हें ईश्वरीय शक्तियाँ मान कर इनका पूजन-अर्चन करते हैं, उन्हें वेद शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा कई बार मनवा चुका था कि ये मानवीय जीवन के विकास के लिए प्रयोग करने योग्य तो हैं, परन्तु पूजन-अर्चन योग्य नहीं। अस्तु, वे बोलते गए और मैं चुपचाप सिर झुका कर बैठा रहा। जिसका स्पष्ट अर्थ था कि मैं उनके सिद्धान्त को अक्षरशः मानता था। वह भी मेरी चुप्पी से इस तथ्य को भांप गए थे। इसलिए इस विषय को यहीं छोड़ कर उन्होंने आगे फरमाना शुरू किया—इसी प्रकार यहां दरम्यान में भी तीन शक्तियाँ विराजमान हैं, जिन्हें लोग अनजाने पूज रहे हैं। इनमें सब से पहला स्थान वायु का है। वायु चूँकि जीवन की गतिविधि की संचालक है, इसलिए आमतौर पर लोग इसी के नियन्त्रण को (प्राणायाम को) भगवान की आराधना समझ बैठते हैं। निःसन्देह प्राणायाम आदि करने से हमारे स्वास्थ्य में आशातीत परिवर्तन होता है। आयु में अज्विद्धि होती है, परन्तु इसका अर्थ यह कदापि

नहीं कि हम प्राणों की गति का नियमन करके कोई परम पिता परमात्मा की भक्ति कर रहे हैं।

उनके इस विचार से मैं पहले तो सहमत न हुआ क्योंकि सालोंसाल से प्राणायाम के लाभों को सुन-सुनकर यह निश्चय हो चुका था कि भक्ति का आरम्भ इसी प्राणायाम से होता है, परन्तु उनके तर्कपूर्ण विचारों के बाद मुझे स्वीकार करना पड़ा कि वायु पर अधिकार भी उसी भान्ति जीवन के लिए लाभदायक है, जिस प्रकार प्रकृति के अन्य उपकरणों पर अधिकार प्राप्त करने से सम्भव हुआ है। अग्नि पर अधिकार से बड़े-बड़े इंजनों का जन्म हुआ। इसी प्रकार वायु पर भी अधिकार कर जहाँ आज तक स्वास्थ्य लाभ ही किया गया था, वहाँ आज के वैज्ञानिकों ने घर बैठे मांसम की तीव्रता को इस सीमा तक शान्त कर दिया है कि आज जब चाहें हम पहाड़ों का-सा आनन्द ले सकते हैं।

आप यह जानकर हैरान होंगे कि वह महात्मा सभी बातें विस्तार से समझाना चाहते थे, परन्तु अब मैं चाहता था कि वह अपनी बात को लम्बा न करें और परमात्मा की अनुभूति कराने का जो उन्होंने वायदा किया था, तुरन्त उसी की पूर्ति की ओर ध्यान दें, क्योंकि मेरी जिज्ञासा इतनी बढ़ चुकी थी कि मैं अब और प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। जब मैंने उन से यह निवेदन किया तो उन्होंने आगे की बातें संक्षेप में समझाते हुए कहा— इसके पश्चात् यहाँ दरम्यान में आकाश स्थित है। आज की दुनिया के लगभग सारे भक्त इसी के पुजारी हैं।

मैं मन में कुछ खीजा तो सही कि ये ऐसी बेतुकी बात क्यों कह रहे हैं, परन्तु उन्होंने इसी बात को थोड़ा विस्तार से समझाते

हुए फ़रमाया—देखो, आकाश का गुण है, शब्द या आवाज़ । और आज शब्द या आवाज़ की ही पूजा हो रही है । जो आप लोग प्रभु का कोई-सा नाम लेकर सुमिरण कर रहे हैं, यह वस्तुतः आकाश की ही पूजा है ।

इतने में उन्होंने 'ओम्' का लम्बा उच्चारण शुरू कर दिया और बताने लगे—लोग इसी प्रकार के नाम उच्चारण को ही ईश्वर की भक्ति मान बैठे हैं । लोग यह समझने की कोशिश नहीं करते कि किसी वस्तु अथवा शक्ति विशेष के नामोच्चारण से हमारी कोई समस्या हल नहीं हो सकती । जैसे पानी के केवल नामोच्चारण से हमारी प्यास नहीं बुझ सकती । प्यास बुझाने के लिए चाहिए, पानी । ठीक इसी प्रकार आत्मा की प्यास बुझाने के लिए साक्षात् सच्चिदानन्द की प्राप्ति की परम आवश्यकता है । अस्तु, कोई राम कहे या कृष्ण, कोई वाहेगुरु कहे या अल्लाह-अल्लाह या कोई परमात्मा का नाम ओम् कहे, इस से कोई बात बनने वाली नहीं ।

मैंने बात को आगे बढ़ाने के लिए झट स्वीकार कर लिया कि आप जो कुछ कह रहे हैं, ठीक ही कह रहे हैं । बस, उन्होंने झट ही अपनी उस बात को वहीं रोक कर आगे फ़रमाना शुरू कर दिया—सब से बढ़ कर जो घान्धली गलत किस्म के वेदान्तियों ने मचा रखी है, उसका जिक्र करना भी बहुत जरूरी है । वह घान्धली है, 'जीव' की व्याख्या के विषय में । वास्तव में जीव भी परमात्मा की रचना (सृष्टि) में एक सजीव तत्त्व ही है ।

ज्ञान प्रदान करने वाले महात्मा की यह बात मुझे सारहीन लगी । उस महात्मा ने भी मेरे चेहरे के उतार-चढ़ाव से मेरे हृदय

में होने वाली हलचल का अन्दाज़ा लगा लिया था। अपनी बात को समझाते हुए वह कहने लगे—बेटा ! जीव, जीव-आत्मा, आत्मा अथवा जीवन-शक्ति का विवेचन वेदान्त एवं वेदों-उपनिषदों के तथा-कथित पण्डितों ने अनेक प्रकार से किया है। उनके मतानुसार हम किसी भी एक निर्णय पर नहीं पहुँच पाते। कुछ विद्वानों ने इन शब्दों को परस्पर पर्यायवाची माना है, अर्थात् एक ही शक्ति का नाम दिया है। कुछ ने आत्मा को ही परमात्मा स्वीकार किया है। किसी ने इसे परमात्मा न मानकर केवल अंश रूप में स्वीकार किया है। कुछ दार्शनिकों ने इसे अपने आप में एक अनादि और सजीव शक्ति माना है। उनके विचार में जीवात्मा परमात्मा की तरह अनादि है, परन्तु यह शक्ति सत्चित् तो है पर इसमें आनन्द का अभाव है।

वह महात्मा यह सब कुछ कहते जा रहे थे और मेरी हृदय की आँखों के सामने द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि विचार-धाराएं घूम गईं। मैंने ध्यान को उन विचारधाराओं से हटा कर मैंने उन से कहा—आप अन्य विद्वानों की बात छोड़िए, आप यह बताइये कि आपके विचारानुसार इस जीवन-शक्ति को किस रूप में स्वीकार किया जाए ?

उत्तर में उन्होंने बड़ी ही सावधानी से फ़रमाया—हमारे मतानुसार नहीं, अपितु ब्रह्मज्ञानी महात्माओं के मतानुसार यह कहना ही सत्य है कि यह शक्ति केवल जीवन-शक्ति है और इसी के अस्तित्व से जड़ शरीर में गतिमानता आ जाती है। अज्ञानतावश सुख के वास्तविक केन्द्र को छोड़ कर जब यह मायावी पदार्थों की ओर आकर्षित होती है तो उन्हीं की तरह परिवर्तन के चक्कर में फंस

कर भिन्न-भिन्न योनियों के कण्ठों को बहान करती है, और यदि यह शक्ति अपना मुख अनादि, अनन्त शक्ति सच्चिदानन्द से जोड़ ले तो एकरस को पाकर यह शक्ति भी एकरस हो जाती है, दुःख और सुख के बन्धनों से छुटकारा पा जाती है ।

इतने पर मुझे सन्तुष्ट हुआ न देख कर वह झट से बोले— मान लो कि यह शक्ति ही परम शक्ति है और अपने आप को अज्ञानतावश अलग समझ बैठी है, तो भी इसे उस विशाल शक्ति से ऐक्य स्थापित करना होगा और तभी इसका कल्याण हो पाएगा । और यदि इस जीवन-शक्ति को परमात्मा का अंश मान लें तो भी इसे पूर्णता की प्राप्ति के लिए परिपूर्ण परम पिता परमात्मा में ही अपने आपको मिला देना होगा । और यदि इस से आगे बढ़ कर हम यह स्वीकार करें कि यह शक्ति सत्चित् और अपने आप में अनादि है तो इसे फिर भी परम सुख की प्राप्ति के लिए परमानन्द की शरण लेनी ही होगी । जहां तक सृष्टि रचना के तत्त्वों के रूप में इस शक्ति का सम्बन्ध है, हमें मानना ही होगा कि जड़ और चेतन के मिलाप से ही इस सृष्टि की रचना सम्भव है । अतः, इसे रचयिता न मानकर रचना में सहायक सजीव तत्त्व ही मानना ठीक रहेगा । परन्तु एक बात तो स्पष्ट है कि हमारा कल्याण सीमा से निकल कर असीम से सीधा सम्बन्ध जोड़ने में ही है ।

इतना कह कर वह रुक गए और फिर प्यार भरे गम्भीर स्वर में फ़रमाने लगे—देखो बेटा ! अब मैं तुम्हें ऐसी शक्ति की अनुभूति कराने जा रहा हूँ, जिसकी अनुभूति की प्राप्ति में ऋषि, मुनि, तपी-तपीश्वर, योगी-यति अपनी युक्तियों से सदा ही असफल रहे । जानिए—⁰ ~~है~~ ^{क्योंकि} ~~यह~~ ^{क्योंकि} ~~यह~~ ^{यह} ~~शक्ति~~ ^{शक्ति} ~~भी~~ ^{भी} ~~न~~ ^न ~~है~~ ^{है} ~~एक~~ ^{एक} ~~प्रकार~~ ^{प्रकार}

की विद्या है। जिस प्रकार अन्य विद्याओं की प्राप्ति के लिए उसी विद्या के किसी ज्ञाता की ही शरण लेनी पड़ती है, ठीक इसी प्रकार इस ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति का भी यही एक मात्र उपाय है कि हम इस ब्रह्म-विद्या के ज्ञाता की शरण लें। आपका सौभाग्य है कि आपका जन्म उस समय हुआ जब बाबा अवतार सिंह जी के रूप में (उस समय युगपुरुष बाबा अवतार सिंह जी सद्गुरु रूप में विराजमान थे। आजकल वही ज्योति बाबा गुरबचन सिंह जी के रूप में प्रकाशमान है) एक ब्रह्मदेत्ता इस धरती पर विद्यमान है। मैं भी उन्हीं की कृपा से आपको इस विशाल शक्ति की अनुभूति कराने जा रहा हूँ। अतः इस समय आप सब ओर से ध्यान हटा कर मेरी ओर ध्यान दें।

उनके इस आदेश को सुन कर मैं ठीक तरह से टिक कर बैठ गया, क्योंकि अब मेरी जिज्ञासा चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। मुझे केन्द्रित मन पाकर उन्होंने अपने दोनों हाथों को ऊपर उठाया। एक हाथ ऊपर की ओर तो दूसरा कुछ दूरी पर नीचे की ओर। आप यूँ समझ सकते हैं कि उन्होंने दोनों हाथों को इस प्रकार आगे बढ़ाया कि एक आसमान का रूप लगे और दूसरा धरती का। आंख झपकने की देरी में उन्होंने दोनों हाथों को इस तरह हिलाना आरम्भ किया कि ऊपर वाले सूर्य, चांद, सितारे, नीचे सम्पर्क में आने वाले धरती, जल, अग्नि एवं बीच में आभासित होने वाले वायु, आकाश एवं जीव सभी प्रलय का ग्रास बनते दिखाई देने लगे, अर्थात् स्पष्ट समझ आने लगा कि ये सभी जड़, चेतन परिवर्तन का शिकार हैं। इनमें सृष्टि रचना का कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं जिस पर मन को टिका कर एकाग्र किया जा सके।

और देखते-देखते उन्होंने मुझ से स्वीकार करवा लिया कि इनके अर्चन-पूजन से हमारा भला होने वाला नहीं। इतने में क्या देखता हूँ कि उन्होंने संकेत में फ़रमाया कि देखो यह ! यह जो इस सृष्टि से अलग है, पूरी सृष्टि जिसमें समाई हुई है, क्या आप इसका कोई अन्त पा सकेंगे ? क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि इसका कोई रंग-रूप नहीं ? क्या यह अकाद्य, अछेद्य, अभेद्य और एकरस नहीं ? क्या यही अनादि और अनन्त नहीं ? क्या यही अविनाशी, अजन्मा और अमर नहीं ? क्या यही व्यापक और कण-कण में रमा हुआ प्रतीत नहीं हो रहा ? और मैं था कि चुपचाप हक्का-बक्का सा बैठा का बैठा रह गया। परमात्मा के सभी गुण उस शक्ति में निहित दिखाई दे रहे थे। मैं किसी भी तर्क की सहायता से इस सत्य को नकार नहीं सकता था। मैं गुम सुम-सा सोच रहा था कि मैं पहले भी इसी शक्ति में विचरण करता रहा, इसी में मेरे सारे क्रियाकलाप सम्पन्न हो रहे थे, क्या यही ईश्वर है ? मेरा चित पुकार-पुकार कर पुराने संस्कारों की दुहाई देकर प्रश्न कर उठता कि इस अनुभूत शक्ति पर ईश्वर सम्बन्धी विशेषण हर तरह से पूरे उतर रहे हैं, पर यदि यही शक्ति ईश्वर होती और इसे इतनी सरलता से ही पाया जा सकता है, तो हमारे ऋषियों को इसकी अनुभूति इतनी सरलता से क्यों न मुलभ हुई ?

मेरे चेहरे के हाव-भावों को देख कर वह भी तुरन्त समझ गए कि मेरे मन में कोई संघर्ष चल रहा है। अतः उन्होंने फ़रमाया— देखो ! यह शक्ति, जिसकी अनुभूति आपने सद्गुरु की कृपा से प्राप्त की है, यह मन-बुद्धि की पहुंच से परे है। अब आप घर को जाइये और उठते-बैठते, सोते-जागते इसी शक्ति को सम्बोधित कर

के वाणी अथवा मन द्वारा निरन्तर यही सुमिरण किया कीजिए, 'तू ही निरंकार ! मैं तेरी शरण हूँ, मुझे बख्श लो।' इस शक्ति को सदा अंग-संग मान कर, निराकार होने के कारण, 'निरंकार' नाम से ही याद किया कीजिए, क्योंकि जिन नामों से ईश्वर को आप पहले से याद करते आ रहे हैं, उनके द्वारा याद करने से फिर किसी पुरानी धारणा अथवा आधार का आपकी मन की आंखों अथवा चरम चक्षुओं के सामने घूम जाना स्वाभाविक है। अतः निराकार परमात्मा को सही रूप में मन में बिठाने के लिए, आज के महात्मा का यही आदेश है कि आप इसे 'तू ही निरंकार' द्वारा ही याद किया करें। जहां तक क्षमा याचना का प्रश्न है, यह भी हमारे आने वाले जीवन को सुधरने के लिए परमावश्यक है; क्योंकि क्षमा प्रार्थी इस बात से भयभीत रहता है कि अब मुझ से ऐसा कोई कर्म न हो जाए कि जिसके लिए मुझे दोबारा क्षमा मांगनी पड़े। निरंकार के आगे बार-बार क्षमा याचना द्वारा हम अपनी बुराइयों से छुटकारा पाने में समर्थ हो सकते हैं। अपने कर्मों के हिसाब-किताब से तो हमारा काम बनने वाला नहीं। अस्तु, एक भक्त अपने परम पिता परमात्मा से यही निवेदन करता है कि दातार ! मुझ पर कृपा करो, मेरे गुण-अवगुणों की ओर ध्यान न देते हुए मुझे अपनी शरण में ले लो !

तीसरा क़दम

वह महात्मा सामने बैठे मुझे सब बातें समझा रहे थे, लेकिन मुझे ऐसा लग रहा था जैसे उनकी आवाज़ बहुत दूर से आ रही हो। जब वह सारी बातें समझा चुके, तो मैं खोया-खोया सा उठ खड़ा हुआ। उठती बार उस महात्मा ने बड़ी ही गम्भीरता से और आदेश भरे स्वर में फ़रमाया—देखो बेटा ! इस ज्ञान को जीवन का अभिन्न अंग बनाने के लिए तुम्हें तीन बातों पर आचरण करना होगा। तुम्हें सत्संग, सुमिरण एवं सेवा की भावना को अपने जीवन में अपनाना होगा।

उन्होंने इस बात को बहुत ही थोड़े शब्दों में कहा था, पर इतना स्पष्ट कर दिया था कि इन तीनों के बिना ज्ञान पर टिक पाना अथवा ज्ञान को सही अर्थों में समझ पाना असम्भव है। खैर, मैं नतमस्तक हुआ चुपचाप उठ खड़ा हुआ। रात के लगभग साढ़े तीन बज चुके थे। मैंने उस महात्मा को उठती बार नमस्कार तक भी न की। मैं अपने आपको खोया-खोया सा अनुभव करने लगा। बेहोशी की-सी हालत में घर पहुँचा। चारपाई पर लेटते ही नींद पंख लगा कर उड़ गई। मैं छत की ओर टिकटिकी लगाए अनजाने ख्यालों

में खो गया। एक ही बात परेशान करने का कारण बनी रही कि जिस शक्ति का मुझे अनुभव कराया गया है, क्या वह ईश्वर हो सकती है या नहीं। इस शक्ति को मैं किस प्रकार मान लूँ? बुद्धि और तर्क की शक्ति बार-बार इसी निर्णय पर पहुँचती कि चूँकि ईश्वर सम्बन्धी सब विशेषतायें इस शक्ति में पाई जाती हैं, वेद आदि सत्य शास्त्रों में वर्णित एवं ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा अनुभूत सभी गुण इस शक्ति में प्राप्त हैं, अतः इस शक्ति को ईश्वर स्वीकार करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए। पर, अज्ञात संस्कारों वश मन इस शक्ति को ईश्वर मानने पर किसी प्रकार से राजी न था। वह रह-रह कर बगावत कर उठता था।

इसी अन्तःद्वंद्व में महीनों बीत गए पर मैं किसी ठोस निर्णय पर न पहुँच सका। आखिर मैंने रात को जाग-जाग कर इस शक्ति पर निरन्तर ध्यान टिकाना आरम्भ कर दिया। पर क्या मजाल कि ध्यान टिके। एक अजीब से मानसिक द्वन्द्व ने मुझे घेर रखा था। मेरी विद्या, मेरी बुद्धि, मेरे तर्क इस शक्ति को ईश्वर स्वीकार करते, मगर मन अपने हठ पर अड़ा था। मेरी हालत यहां तक आ पहुँची कि मैं कालका मन्दिर की एकान्त गुफाओं में बैठकर कई कई घण्टों तक प्रभु परमात्मा से याचना करता कि हे प्रभु ! यदि तुम यही हो, जिसका बोध मुझे कराया गया है, तो कृपा करो, मुझे तुम्हारे इस रूप पर विश्वास आ जाए। यदि तुम यह शक्ति नहीं हो तो भी कृपा करो कि मेरा इस शक्ति से ध्यान हट जाए, ताकि मैं तुम्हारी खोज जारी रख सकूँ।

मैं उन दिनों खिजली घर में रात की झूटि दिया करता था। वहां भी रात को जाग-जाग कर मैं अकसर यही याचना

करता। मैं अब कहीं जाने योग्य भी न रहा था, क्योंकि अब जहाँ कहीं भी जाता, वहाँ निराकार प्रभु की अनुभूति की बात न सुन कर, केवल प्रभु के गुणों की चर्चा सुन पाने के कारण वहाँ से वापिस घर लौट पड़ता। अब केवल ज्ञान की थोथी बातें मेरे मन को अपनी ओर आकर्षित न कर पातीं। सच बात तो यह है कि मेरी हालत धोबी के कुत्ते की-सी हो गई थी, जो न घर का रहता है और न घाट का। इसी कशमकश में तीन-चार वर्ष बीत गए, परन्तु इस अनुभूत शक्ति पर मन टिकने में न आया। टिकता भी कैसे ? क्योंकि मैंने उस महात्मा के अन्तिम आदेश को सिर से ही भुला दिया था। यह बात मुझे स्वयं समझ में नहीं आई बल्कि यह बात भी मुझे निरंकारी मिशन के एक अनुयायी ने ही बताई। उन से मैंने जब अपनी मानसिक स्थिति कह सुनाई तो उन्होंने तुरन्त एक अच्छे वैद्य की भान्ति रोग का पता लगा लिया। रोग को मैंने स्वयं ही जन्म दिया हुआ था। निदान स्वरूप उन्होंने मुझे ज्ञान प्रदान करने वाले महात्मा के अन्तिम आदेश की याद दिलाई कि सत्संग, सेवा और सुमिरण के बिना इस ज्ञान को सही अर्थों में समझ पाना सम्भव नहीं। सुन कर मुझे अपने ऊपर बहुत ग्लानि हुई। मैंने मन ही मन निश्चय किया, इन तीनों चीजों को भी आजमा कर अवश्य देखना चाहिए। इस प्रकार वर्षों की मानसिक कशमकश के बाद मैंने ज्ञान प्रदान करने वाले महापुरुष के इस आदेश पर आचरण करने का मन ही मन निश्चय कर लिया। परिणामतः मैंने संगत में जाना आरम्भ कर दिया। पहले ही दिन संगत में एक ऐसे महापुरुष के दर्शन हुए, जिसके व्यक्तित्व ने मुझे हर तरह से बहुत ही प्रभावित किया। संगत का हर महापुरुष

उन्हें 'निर्मल' जोशी कह कर उनका परिचय दे रहा था। उन्होंने अपने प्रवचन को कुछ इस प्रकार शुरू किया—यहां आज हम लगभग वही लोग बैठे हैं, जिन्हें सद्गुरु की कृपा से इस असीम सत्ता की जानकारी हो चुकी है। परन्तु मुझे यह कहने में रती भर संकोच नहीं कि केवल जानकारी हमारी श्रद्धा और हमारे दृढ़ विश्वास का आधार नहीं बन सकती और जब तक इस विशाल सत्ता के प्रति हमारी श्रद्धा और हमारा सही विश्वास नहीं बनता, हमारे जीवन में आनन्द की लहर दौड़ पाना किसी तरह भी मुमकिन नहीं।

उन्होंने अपनी बात का स्पष्टीकरण एक उदाहरण द्वारा किया। उन्होंने बताया कि हिन्दुस्तानी ढंग से जब हमारी शादी सम्पन्न होती है तो उसमें पंडित, मुल्ला, भाई अथवा और कोई विचोला (माध्यम) लड़के और लड़की को एक दूसरे के करीब ले आता है। वह 'लावां-फेरे' करके उनके सम्बन्ध जोड़ देता है, एक-दूसरे का एक-दूसरे से परिचय भी करवा देता है। होने वाले पति के गुण, कर्म और स्वभाव का भी बखान कर देता है। परन्तु शादी का आनन्द प्राप्त करने के लिए केवल यह क्रिया, यह कर्म ही काफी नहीं। मुझे यहां यह मानने में आपत्ति नहीं कि उनका यह मिलन जीवन के आगामी विकास के लिए बुनियादी नींव-पत्थर से कम नहीं। लेकिन जीवन की पूरी इमारत का निर्माण करने के लिए उम लड़की के लिए अपने मायके घर का त्याग करके पति-घर में जा कर बसना बहुत जरूरी है। पति की शक्ति, पति के सामर्थ्य का पता तो उस पत्नी को तब ही चल पाता है जब वह अपना सर्वस्व पति को अर्पण कर देती है। यदि वह शादी करके मायके में ही

बमना जारी रखे तो वह तीन काल तक अपने पति के सामर्थ्य का अनुभव नहीं कर सकती। वह परिचय, वह प्रथम साक्षात्कार उसे पति पर विश्वास दिला पाने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार, जो आत्मा सद्गुरु की कृपा से अपने पति परमात्मा का साक्षात्कार करके अपने मायके (माया) में ही लिप्त रहती है, उसे कभी भी पति परमात्मा के सामर्थ्य का बोध नहीं हो सकता। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि हमारी यह जान-कारी आनन्द का स्रोत बन सके अथवा हमें यकीन आ सके कि हमें वही शक्ति प्राप्त हुई है जिसकी खोज हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य थी तो हमें अपने समग्र मन से इस विशाल सत्ता का हो जाना होगा, दिन रात इसके अस्तित्व का आभास कायम रखना होगा।

उन्होंने एक और उदाहरण भी दिया। उन्होंने प्रमाया— एक विद्यार्थी जब हिसाब जानने अथवा सीखने की इच्छा से किसी मास्टर की खिदमत में पेश होता है तो वह मास्टर उसे एक लकीर खींच कर कहता है कि बोलो 'एक', और वह बच्चा बिना किसी हील-हुज्जत के उस लकीर को एक कहना शुरू कर देता है। देखते-देखते एक दिन वह गणित का विद्वान् बन जाता है। यदि वह अड़ जाए और कहने लगे, यह तो लकीर है, यह 'एक' कैसे हो सकती है तो उस विद्यार्थी का विकास हो पाना यकीनन नामुमकिन है। इसी प्रकार प्रभु-जिज्ञासु को भी एक बार सद्गुरु के आदेश पर, सद्गुरु द्वारा दिये गये संकेत पर चल पड़ना होगा, तो निश्चित ही उसका भी इस शक्ति पर, जिसका हमें बोध कराया गया है, विश्वास जम सकता है और वह जीवन के सही आनन्द को

प्राप्त करने में सफल हो पायेगा ।

'निर्मल' जोशी जी तो ये बातें कह कर अपने घर चले गए, परन्तु मेरी नींद उचाट हो गई । मुझे समझ में नहीं आ रहा था कि मैं किस प्रकार इस विशाल सत्ता का हो जाऊँ । माया छोड़ने का क्या अर्थ है ? इस सत्ता के साथ सम्भोग करने की क्या विधि है ?

अभी कुछ दिन ही बीते थे कि एक और महात्मा हमारी संगत में पधारे । उस बुजुर्ग महापुरुष मास्टर नत्था सिंह जी ने भी 'जोशी' जी से मिलती जुलती बातें कहीं । उन्होंने फ़रमाया कि आनन्द तीन प्रकार का होता है : श्रवणानन्द, दर्शनानन्द और भोगानन्द । उन्होंने भी अपनी बात को समझाने के लिए एक दुनियावी उदाहरण का सहारा लिया । उन्होंने फ़रमाया कि एक व्यक्ति, जिसने लाटरी की टिकट खरीद रखी होती है, जब उसे कोई आकर यह खबर सुनाता है कि तुम्हारी एक लाख रुपये की लाटरी निकली है तो वह सुनकर खुशी में झूम उठता है । कुछ दिनों के बाद उसे उस रकम का चैक प्राप्त होता है । वह चैक को देखकर नाच उठता है । लेकिन ये दोनों अनुभूतियाँ जीवन को सही सुख नहीं प्रदान कर सकतीं । सच्चा सुख पाने के लिए उसे उस चैक को कैश करवाना होगा और प्राप्त माया द्वारा भोग्य पदार्थों को खरीद कर उनका भोग करना होगा । ठीक इसी प्रकार हम निराकार प्रभु का श्रवण करते हैं । सद्गुरु की कृपा से इसके दर्शन भी हो जाते हैं, परन्तु शाश्वत आनन्द के लिए इसका भोग करना होता है । दर्शन तो केवल चैक की प्राप्ति मात्र है । इससे अधिक कुछ नहीं । इस चैक द्वारा कितने सुखों के भण्डार प्राप्त हो सकते हैं, यह इसे भुनाने के बाद ही पता चल सकता है ।

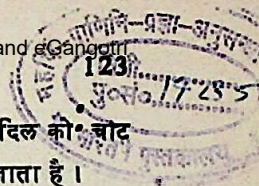
वह महात्मा भी अपनी बात कह कर जहाँ से पधारे थे, वहाँ लौट गए। लेकिन मेरी समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। मैं अब भी इस सोच में था कि इस चैक को कैसे कैश कराना होगा? और कहाँ से कैश कराना होगा?

संगत करने का एक परिणाम स्पष्ट सामने आने लगा कि मेरा मन कर्मकाण्डों से उचाट होने लगा। खूटीन की भक्ति मुझे छलावा प्रतीत होने लगी। मेरा मन बार-बार मुझे उधर जाने से रोकने लगा, जहाँ मैं पहले जाकर हवन-संध्या किया करता था। मेरी समझ में यह बात बैठने लगी कि यह प्राप्ति के साधन तो हो सकते थे, पर यह साध्य नहीं हो सकते। जीवन का परम लक्ष्य ये नहीं है। मुझे अब साधनों में अड़ा नहीं रहना। मुझे तो अपनी मंजिल को पाकर ही दम लेना है। परन्तु ऐसे सोचते हुए भी उन कर्मों का त्याग कर पाने में अन्दर ही अन्दर किसी डर का अनुभव करता था।

उन्हीं दिनों सन्त निरंकारी मण्डल के प्रधान पूज्य भाई साहब लाभ सिंह जी हमारे यहाँ पधारे। उन से मैंने अपने मन की व्यथा गाया कह सुनाई और हिम्मत करके उन से यह प्रश्न भी पूछ लिया कि जिस सत्ता का हमें बोध कराया गया है, इसका हो जाने या इसका भोग करने का क्या अर्थ है? उन्होंने बड़े ही थोड़े शब्दों में मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया—मान लो, आप दिल्ली से अमृतसर के लिए ट्रेन से खाना होते हैं। कई स्टेशनों से गुजरती हुई गाड़ी अमृतसर स्टेशन पर जा पहुँचती है। अब यदि आप अमृतसर का आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, अथवा अमृतसर के अस्तित्व से सही तौर पर परिचित होना चाहते हैं तो

आपको गाड़ी छोड़कर अमृतसर में प्रवेश कर जाना होगा। ठीक इसी प्रकार आपने आज तक जिन जप, तप, साधनों को इस सत्ता की अनुभूति के लिए अपनाया है, उन सबका सहारा छोड़कर एक मात्र इसी को, इस असीम सत्ता को जीवन का आश्रय मानना होगा तभी आपको शाश्वत आनन्द प्राप्त हो पाएगा। इस एक की पूजा, इस एक की टेक, इस एक पर भरोसा ही इसका हो जाना या इस का भोग करना कहलाता है। जब तक आप दो वेड़ियों में पैर रखे हुए हैं, आपका उस पार पहुंच जाना किसी तरह भी सम्भव नहीं।

मेरा मन तो पहले ही कर्मकाण्डों की ओर से छूटने की कोशिश में था, इस धक्के को पाकर कर्मकाण्डों की नदिया से निकल कर प्रभु के किनारे पर जा पहुंचा। मेरे सभी कर्मकाण्ड छूट गए। मैंने खुद को इस असीम सत्ता के सुमिरण में डुबो देना चाहा। एक बार फिर मैं कालका मन्दिर के आस-पास की चट्टानों और टीलों पर अकेले बैठकर घण्टों इस असीम शक्ति को सम्बोधित करते हुए प्रार्थना करने लगा — मैं सब तरफ से मुंह मोड़कर तुम्हारी शरण में पड़ा हूं। यदि तुम वही हो जिसकी ऋषि, मुनि और महात्मा खोज कर रहे हैं, तो रहम कर, मैं तुम्हें सब कुछ मान सकूँ। जैसा कि पहले बता चुका हूँ कि मैं विजली विभाग में काम करता था; अक्सर रात की ड्यूटी देनी पड़ती थी। रात भर जागते रहना पड़ता। उस समय भी ऐसी ही प्रार्थना करता। एक रात को बैच पर बैठे-बैठे जब इस विशाल सत्ता को सम्बोधन करते हुए वही प्रार्थना दोहराने लगा और साथ ही साथ बाएं हाथ की अंगुली में पहनी हुई अंगूठी दाएं हाथ से बार-बार उतारने और पहनने



डंग से भी बार नहीं करना है। इससे गुरुसिख के दिल को चोट पहुंचती है और हमारे मन का चैन समय पाकर लुट जाता है।

इन विचारों ने मेरे दिल पर गहरा असर किया और मैंने दिल ही दिल में अरदास की कि अब मैं कभी किसी गुरुसिख की निन्दा का भागीदार न बनूं।

यहां पर मैं गुगपुरुष बाबा अवतार सिंह जी द्वारा दी गई एक विशेष चेतावनी का भी वर्णन करना चाहूंगा। उन्होंने कहा था— सेवा, सुमिरण और सत्संग का सारा फल उस समय फ़ौरन नष्ट हो जाता है, जन्म-हम अपने आपको पवित्र और दूसरों को अवगुणों से भरा देखते हैं। गुरुमत में तो अपने आपको नीचा और दूसरे सन्त महापुरुषों को अपने से ऊंचा समझने वाला ही जीतता है। इसलिए अहंकार और पर-अवगुणों को देखने की भावना से सदा बचो; तभी जीवन आनन्दमयी हो पायेगा।

मेरे जीवन का वह दिन निश्चित ही सुनहरा दिन कहा जा सकता है, जब सद्गुरु बाबा गुरुवचन सिंह जी महाराज के एक प्रवचन को मैंने बड़े तन्मय भाव से सुना। हुजूर ने फ़रमाया—

साध संगत ! गुरुमत का मार्ग बड़ा विषम मार्ग है। इस पर चलना खण्डे की धार पर चलने के बराबर है। जो लोग इधर उधर दूसरे गुरुसिखों की करनी पर झाँकते रहते हैं, आज नहीं तो कल पतन के गड्ढे में गिरे कि गिरे। उन्हें कोई नहीं बचा सकता। लेकिन जो लोग सद्गुरु और साध संगत से जुड़े रहते हैं, भला बुरा दातार सद्गुरु पर छोड़कर निर्लेप अवस्था का जीवन गुज़ारते हैं, सद्गुरु या महापुरुषों की करनी को मापने की बजाय उनके आदेशों पर स्याणप-चतुराई को छोड़कर आचरण करते और

हर काम में दातार को अंग-संग जानकर विचरते हैं, सन्त महाजनों की निष्कपट भाव से सेवा करते हैं; उनके हृदय में यह दातार निरंकार अपने आप विराजमान हो जाता है। उन्हें और किसी जप-तप साधन की जरूरत नहीं पड़ती। हमें अहंभाव को छोड़कर मद्गुरु के हुक्म के अनुसार जीवन जीते जाना है, फिर हमारे सामने कोई मसला खड़ा नहीं हो सकता। हम हर तरह से सुखरू होकर जीवन गुजारने में सफल हो सकते हैं। हमारा लोक सुखी और परलोक सुहेला हो सकता है। कई लोग रोजाना नये-नये सवाल लेकर मेरे पास पहुंच जाते हैं। मैं उनसे इतना ही कहना चाहता हूं कि आप लोग संगत के साथ जुड़े रहें। कभी-कभार किसी महापुरुष को अपने घर पर बुलाकर, उनकी हर प्रकार से अपनी शक्ति अनुसार सेवा करके, अपने गैर की हालत उनके सामने रख दिया करें। उस महापुरुष के मुख से निकले हुए वचन आपकी हर समस्या का हल साबित होंगे।

इस प्रवचन ने मेरी जीवन धारा का रुख बदल कर रख दिया। ज्ञान प्राप्ति के समय तो मैं आनन्द की इस ज्योति की झलक मात्र देख पाया था, लेकिन जब मैंने इन उपरोक्त सभी आदेशों को जीवन में ढाला तो मेरा अन्दर बाहर प्रकाशित हो गया। आर्थिक अंधेरे धुल गये, सामाजिक दृष्टिकोण नफ़रत, द्वेष, ईर्ष्या की विध्वंसकारी अंधेरी गार से निकल सह-अस्तित्व, भाईचारे और प्रेम के निर्माणकारी प्रकाश की ओर अग्रसर हुआ और आत्मा जन्म-मरण के चक्र से निकल शाश्वत आनन्द में मुस्करा उठी। चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश फैल गया। मेरा जीवन अब आठों पहर गुल्वाणी के महान् श्लोक के अनुसार बीत रहा है :

ऊठत बैठत हर भजो, साधु संग प्रीत ।

नानक दुरमति छुट गई, पार ब्रह्म बसं चीत ॥

क्योंकि :

जा पर कृपा राम की होई, ता पर कृपा करै सब कोई ।

गुरु ने मुझे अर्पना लिया है । प्रभु की मुझ पर असीम कृपा है । सन्त महापुरुष सदा मेरे लिए भले की ही कामना करते हैं । मेरा छोटा-सा परिवार, मेरी जीवन संगिनी श्रीमती राम दुलारी, मेरे पुत्र विमलेश श्री 'विमल' एवं मेरी पुत्री अरुण लता मेरे पारमार्थिक जीवन में हर तरह से सहयोगी हैं ।

सच बात तो यह है कि आज मुझे जो यह आनन्दमयी अवस्था प्राप्त हुई है, अपने परिवार के सहयोग के बिना मुझे कभी प्राप्त न हो पाती; अंधकार से प्रकाश तक का यह सफ़र, उनके सहयोग के बिना सम्भव न हो पाता ।

आज इस ज्योतिपुञ्ज से स्वयं प्रकाश प्राप्त करने के बाद मैं प्रकाश की खोज करने वालों को विनम्र परामर्श दूंगा कि वे अपने लोक और परलोक को सुखी बनाने के लिए, दुःखों के अन्धेरों से निकल कर आनन्द के प्रकाश तक पहुंचने के लिए, पूर्ण महापुरुष की शरण लेने में बिस्फुल संकोच से काम न लें । मेरी तरह जो प्रकाश तक पहुंच चुके हैं, अपने लिए और उन सब के लिए दातार के चरणों में अरदास है कि हम सबका सम्बन्ध इस ज्योतिपुञ्ज से सदा-सदा जुड़ा रहे । अन्त में सद्गुरु के पावन चरणों में 'बाबू' 'हीरा' के शब्दों में अरदास है :

दिया है तूने नफ़ीस तोफ़ा, कदर करें हम हमें कदर दे
समझ सकें हम तुझे खुदाया, हमारी नज़रों को वो नज़र दे

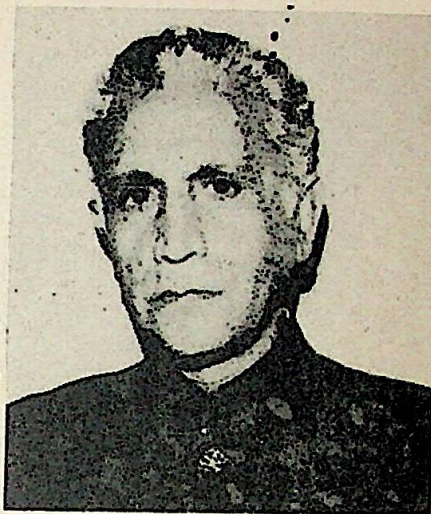
नजर अगर जाए मेरे गीला, तो जाए अपनी ही खामियों पर
न गन्दगी पर निगाह डालें, तेरे सरोवर के हंस होकर
चुनें हमेशा गुणों के मोती; तू ऐसा परवरदिगार बर दे
दिया है.....

कही हैं ऊँची से ऊँची बातें, जो कह गए हैं वो जिन्दगी दे
न बू हो जिसमें गरज की कोई, तू बन्दापरवर वो बन्दगी दे
हम अपनी मरजी से कुछ करें न, तू जैसा चाहता है, वैसा कर दे
दिया है.....

हो तन में ताकत, हो मन में उत्कृत, हो धन जो सेवा के काम आए
मगर बहक जाऊँ जिसको पीकर, कभी न लब तक वो जाम आए
रहें क्यों पीछे ऐ मेरे बाबा, तू आप रहमत हमें अगर दे
दिया है.....

ऐ शहतशाह दो जहान वाली, 'बचन' को समझू बचन को मानू
तू 'हीरा' जैसे चलाए मुझको, मैं वैसे तेरे चलन को मानू
फँलाए झोली खड़ा है 'बाबू', ऐ मेरे दातार झोली भर दे
दिया है.....

दो शब्द



श्री जय राम दास जी 'सत्यार्थी' जिन्हें निरंकारी जगन् में शास्त्री जी के नाम से जाना जाता है, के विषय में कुछ भी कहना प्रकाश को अन्धकार की ओर ले जाने वाली बात होगी। यह महापुरुष जिस निडर आवाज में निराकार परमात्मा के प्रचार की बात कहता है, उसके पीछे इसका अपना निजी जीवन बोल रहा होता है।

ज० आर० डी० 'सत्यार्थी',

यह पुस्तक 'सत्यार्थी' जी के निजी अनुभवों पर आधारित है। अंधकार से प्रकाश तक के सफ़र में उन्होंने जो-जो अनुभव किया, उसी की चर्चा इस पुस्तक में की गई है, और लेखक ने कामना यह की है कि जिस प्रकार वह स्वयं अन्धकार से प्रकाश में पहुँचा है, उसी तरह मानव मात्र इस ज्ञान रूपी प्रकाश का आनन्द प्राप्त कर के अपना लोक सुखी और परलोक मुहेला कर ले।

—'निर्मल' जोशी



THE HINDU

.....

1
THE HINDU
.....
.....

THE HINDU